वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-2

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में-

कहाँ/क्या?

वर्ष-59, किरण-1-2
जनवरी-जून 2006

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
429, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ प्र)
फोन: (0131) 2603730

सह सम्पादक :
संजीव जैन

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-
अनेकान्त वार्षिक शुल्क 30/-
इस अंक का मूल्य 10/-
सदस्यों व मंदिरो के लिए नि:शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर
(जैन दर्शन शोध संस्थान)
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

अध्यात्म-पद

अब मेरे समकित सावन आयो।
बीती कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो।।
।। अब.।।

अनुभव दामिनी दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो।
बोलैं विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिन भायो।
।। अब.।।

गुरु धुनि गरज सुनत सुख उपजै, मोर सुमन विहसायो।
साधक भाव अंकूर उठे बहु, जित तित हरष सवायो।।
।। अब.।।

भूल धूल कहि मूल न सूझत, समरस जल भर लायो।
भूधर को निकसै अब बाहिर, निज निरचू घर पायो।।
।। अब.।।

–कविवर भूधरदास

सम्पादकीय

मानव धर्म : समय की पुकार

– डॉ. जयकुमार जैन

भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागताः यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

आज चतुर्दिक् हिंसा का प्रसार बढ़ रहा है। पदलोलुपता एवं परिग्रहलिप्सा के चक्कर में फसा मानव सिद्धान्तहीन होकर जघन्य से जघन्य पाप करने में संकोच नहीं कर रहा है। जो वैज्ञानिक साधन मानवीय कल्याण के लिए हो सकते थे, उन्हीं से हिंसा को क्रूरतम रूप दे दिया गया है। मानव के जीवन में शान्ति ढूँढ़ने पर भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं है। दैनन्दिन जीवन संघर्षमय हो गया है। शान्ति के नाम पर असीमित धन खर्च किया जा रहा है, नरसंहार जैसी अनैतिक प्रवृत्तियों का आश्रय लिया जा रहा है। फिर भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, जमाखोरी एवं शोषण जैसी दृष्प्रवृत्तियाँ बढ़ती ही जा रही हैं। आज मानव से ही मानव को जितना बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया है, उतना बड़ा खतरा किसी प्राकृतिक आपदा से नहीं है।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री विष्णु प्रभाकर ने लिखा है–"आज देश में धन वैभव के मूल्य बढ़ गये हैं और नैतिकता के मूल्य शून्य हो गये हैं। गरीबी की गरिमा, सादगी का सौन्दर्य, संघर्ष का हर्ष, समता का स्वाद और आस्था का आनन्द–ये सब हमारे आचरण में से पतझर के पत्तों की तरह झर गये हैं। आज समाज की सारी अशान्ति, सारे संक्लेश, क्या इसी वैचारिक पतझर का परिणाम नहीं है?"

इस विषम परिस्थिति का इलाज केवल धर्मज्ञों के पास ही है। धर्म का एक पक्ष यदि व्यक्तिवादी हो सकता है तो उसके अनेक पक्ष सामाजिक हैं। सम्पूर्ण मानवों की पीड़ा की विमुक्ति धर्म का सामाजिक

पक्ष है। पूर्वाग्रहों को छोड़कर यदि सभी धर्मों के जानकार समाज का मार्गदर्शन करें तथा वुनियादी रूप से अविवादित अहिंसा, अपरिग्रह, समन्वय, उदारता आदि उदात्त धार्मिक तत्त्वों की अनिवार्यता को समझायें तो कोई कारण नहीं कि मनुष्य पुन शान्तिपूर्ण जीवन न विता सके। धर्म से हमारे जीवन में मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च जैसी पवित्रता एवं चन्दन जैसी महक आ सकती है। शान्त एवं तनावरहित जीवन जीने के लिए हमें अपना लक्ष्य निर्धारित करना होगा। महाभारत में तो कुरुक्षेत्र के युद्ध की वात हम केवल पढ़ते हैं, पर वास्तविकता यह है कि आज हम सभी का हृदय कुरुक्षेत्र वना हुआ है। इसका कारण तेरे-मेरे की विचारणा है। राग-द्वेप आदि विकृतियों को हटाकर इसे धर्मक्षेत्र वनाने की आवश्यकता है। एक महापुरुप का यह कथन सर्वथा समीचीन ही है कि–"**विचार कितने ही अच्छे क्यों न हों, यदि तदनुकूल आचरण नहीं है तो वे निरर्थक हैं।**"

मानव सृष्टि का सबसे विवेकशील प्राणी है। इसी कारण उसमे सुख की आकांक्षा के साथ सुख प्राप्त करने का प्रयास भी पाया जाता है यही प्रयास जब व्यक्तिवादी पक्ष को छोडकर सामाजिक सुख के लिए किया जाता है, तो वह मानव धर्म कहलाता है। यह दुराग्रह एव पथव्यामोह से रहित होता है। पंथव्यामोह को छोड़े विना मानव धर्म अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर सकता। धर्म विराट है उसे हिन्दू, जेन वौद्ध, ईसाई, मुस्लिम की सीमाओं मे नही वांधा जा सकता। जो वाधा जा सकता है, वह पथ या संप्रदाय हो सकता है, धर्म नहीं। धर्म तो सीमाओं से परे है। पथ को अपनी महत्ता हो सकती है, पर सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में यह सीमा हितकारी नहीं है।

दुनियाँ मे हिसा सवसे बड़ा पाप है। यदि धम के नाम पर हिंसा का आश्रय लिया जाये तो इससे वडा पाप तो कोइ हो ही नही सकता, वह तो महापाप है। अहिंसा की प्रतिष्ठा के बिना मानवीयता की कल्पना दुराशा मात्र है। अहिंसा एक सकारात्मक एव व्यावहारिक जीवन

दर्शन है, इससे वैचारिक प्रदूषण का विनाश होता है तथा चित्त में निर्मलता आती है। अहिंसा की आराधना के लिए आहार शुद्धि आवश्यक है। शाकाहार अहिंसक प्रवृत्ति को जन्म देता है। जैन शास्त्रों में हिंसा के चार रूप वर्णित हैं–उद्योगी, विरोधी, आरंभी और संकल्पी। गृहस्थ अपनी भूमिका में मात्र संकल्पी हिंसा का त्याग करता है, तो भी वह अहिंसक कहलाने लगता है। अतः अहिंसा पर कायरता या पलायन का आरोप कथमपि सही नहीं है। अहिंसा मानवधर्म का प्रथम सोपान है। नारायण कृष्ण ने अहिंसा की स्थापना के लिए ही कौरवों के समक्ष आधे राज्य का प्रस्ताव रखा था। उन्होंने कहा–

"कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणाम् एतद् याचितुमागतः।।"

जब उनका शान्ति प्रस्ताव सफल नहीं हुआ, तब उन्हें धर्मयुद्ध की प्रेरणा देनी पड़ी। महाभारत की तो स्पष्ट घोषणा है–"अहिंसा परमो धर्मः, यतो धर्मस्ततो जयः।" जैनधर्म में भावहिंसा का विशिष्ट कथन हुआ है। तेरे-मेरे की भावना के कारण हिंसा उत्पन्न होती है, अतः राग-द्वेष का अभाव ही वास्तव में अहिंसा है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है–

"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।"

हिंसा के आश्रय से कभी भी किसी भी समस्या का ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक समाधान नहीं हो सकता है। तात्कालिक समाधान सा दिखाई देने पर भी वह नई-नई समस्याओं को जन्म देती है। उसकी स्थिति तो ऐसे बालक के समान है जो तैरना तो सीखना चाहता है, पर पानी छूना नहीं चाहता। अथवा ऐसी नारी के समान है जो अपने कपोल पर लगी काजल की कालिमा को दर्पण में देखकर दर्पण को साफ करके उसे मिटाना चाहती है। हमारी स्थिति बड़ी विचित्र है। हम फल तो

अहिंसा का चाहते हैं और अहिंसा को पालते नही हैं। हिंसा का फल हम नहीं चाहते हैं, पर हिंसा में प्रयासपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं कहा भी गया है–

"पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।"

यह कथमपि संभव नही है कि हम बबूल का बीज बोयें और उससे उत्पन्न वृक्ष में आम के फल लगें। अतः हमें अहिंसा की सूक्ष्म विचारणा की अपेक्षा स्थूल रूप से अहिंसा का परिपालन करने के लिए तेरे-मेरे की भावना त्यागनी होगी। प्रसिद्ध मानवतावादी सन्त श्री गणेश प्रसाद वर्णी का कहना है कि– **"जानने के लिए तीन लोक हैं। चाहे जितना जानते रहो। त्यागने के लिए तीन ही विकार हैं–राग, द्वेष और मोह। ये छूट जायें तो संसार की सारी व्याधियाँ छूट जायें।"**

धर्म की व्याख्यायें अब जन-हित में करने की आवश्यकता है। अन्य मनुष्यों के साथ वैसा व्यवहार करना धर्म है, जैसा व्यवहार हम दूसरों के द्वारा अपने साथ चाहते हैं। भगवान् महावीर के उपदेश में पदे-पदे प्राणीमात्र के कल्याण का भाव है। आचार्य समन्तभद्र ने महावीर के धर्मसंघ को सभी प्राणियों के दुःखों का अन्त करने वाला तथा सभी का कल्याण करने वाला तीर्थ कहा है–

"सर्वापदाम् अन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।"

जैन आगमों में वर्णित कुलधर्म, ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म और गणधर्म धर्म की सामाजिक सापेक्षता को स्पष्ट करते हैं। सर्वोदय तीर्थ का तात्पर्य है समता। समता का भाव धर्म है और विषमता अधर्म। भगवान् महावीर समता के आराधक थे, कोई समाज सुधारक नहीं। अतः यह कहना कि जैनधर्म का उदय वैदिक धर्म के विरोध में हुआ, कथञ्चित् भी यथार्थ नही है। आचार्यों का कथन है कि जगत् में नाना

जीव हैं, उनके नाना कर्म हैं और उनमें नाना योग्यतायें हैं अतः चाहे वे स्वधर्मी हों या अन्यधर्मी, उनके साथ विवाद मत करो। विषमता चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र में हो या आर्थिक क्षेत्र में हो; वह कल्याण में बाधक है। अर्जन की शुद्धि, संग्रह की सीमा और उपभोग का सयम आर्थिक समता ला सकता है तो मानवमात्र को अपने समान मानना सामाजिक समता उत्पन्न कर सकता है।

जन्मना जाति में विश्वास समता का विखण्डक विषमतापूर्ण सिद्धान्त था। किसी कारणवश इस सिद्धान्त ने समाज में जड़ें जमा लीं थीं। भगवान् महावीर ने इसका विरोध किया। उन्होंने प्रचलित जातियों को अस्वीकृत नहीं किया किन्तु आचरण या कार्य के आधार पर मानने का सूत्र प्रतिपादित किया। आचार्य जिनसेन ने स्पष्ट घोषणा की है कि मनुष्य जाति एक ही है। मात्र आजीविका के भेद से वह चार प्रकार की हो जाती है। व्रतसंस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रधारण से क्षत्रिय, न्यायपूर्ण धनार्जन से वैश्य और सेवावृत्ति से शूद्र कहा जाता है। अमितगति आचार्य कहते हैं कि ब्राह्मणादि की भेदकल्पना आचारमात्र से है कोई जाति नियत नही है। सदाचारी शूद्र भी शील, संयम आदि गुणों से स्वर्ग प्राप्त कर सकता है और दुराचारी ब्राह्मण भी कुशील एवं असंयम आदि दुर्गुणों से नरक जा सकता है। अन्य धार्मिक विचारधाराओं में भी ऐसी मान्यातायें हैं, पर उनके सम्यक् समुद्घाटन की आवश्यकता है। जातिवाद एवं वर्गवाद के प्रति दृष्टिकोण के परिवर्तन से अमानवीय व्यवहार घटेंगे, छुआछूत जैसी बीमारी समाप्त होगी तथा मानवधर्म की प्रतिष्ठा होगी। श्री रविषेणाचार्य ने सभी जातियों को समान मानते हुए कहा है–

"न जातिः गर्हिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवाः ब्राह्मणं विदुः।।"

आज राजनीतिक गिरावट का प्रमुख कारण जातिवाद के समापन के नाम पर दिया जा रहा जातिवाद एवं वर्गवाद का बढ़ावा ही है। यदि

कर्मणा जातिव्यवस्था का सूत्र मान लिया जाये तो विषमता मिट सकती है। क्योंकि एक परिवार में भी चारों वर्ण हो सकते हैं। तब घृणा, ऊँच-नीच या छुआछूत का कोई स्थान रहेगा ही नहीं। राजनीति की धर्मविहीनता ने राष्ट्र का जो नुकसान किया है, वह अकथनीय है। आज नेता से प्रजा का और प्रजा से नेता का विश्वास उठ गया है। फलतः जनतन्त्र में भी शासक और शासित की धारणा पुनः बलवती होती जा रही है। इस समय धर्म-विहीन राजनीति चौराहे पर खड़ी उस वेश्या के समान हो गई है, जिसका अपना कोई नहीं होता है तथा वह भी किसी की नहीं होती है। अतः सभी क्षेत्रों में समता की विचारणा की आवश्यकता है। फल तो व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ से ही प्राप्त हो सकता है।

धर्म और जीवन का गहरा सम्बन्ध है। धर्महीनता जीव को शव और धर्म जीव को शिव बना देता है। धर्म की संरक्षा में नारियों का विशिष्ट महत्त्व है। क्योंकि पारंपरिक तौर पर नारियों का मुख्य क्षेत्र गृहस्थी माना जाता है। नारी गृहस्थी की धुरी है। भ. महावीर का संघ चतुर्विध था। उसमें साधुओं की संख्या 14 हजार थी तो साध्वियों की 36 हजार। श्रावक कुल 1 लाख 59 हजार थे तो श्राविकायें 3 लाख 18 हजार थीं। कुल मिलाकर नारियों की संख्या दुगुनी से भी 8 हजार अधिक है। कालान्तर में नारी दुरवस्था को प्राप्त हो गई। यदि मानवधर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करना है तो नारी को शिक्षित और सशक्त बनाने की आवश्यकता है। जब नारी धर्म के मर्म को हृदयंगम कर लेगी तो वह मानवमात्र को प्रेम के धागे में बाँध सकेगी तथा भावी सन्तान को ऐसे संस्कार दे सकेगी जिससे जगत् में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना बलवती होगी।

धर्म में प्रतिपादित 'परस्परोपग्रहो' की भावना से ही मानव का अस्तित्व कायम है। इस भावना की कमी ने पर्यावरण में असंतुलन पैदा

किया है। प्रकृति के सभी घटक मानव का उपकार करते हैं मानव भी प्रकृति के सभी घटकों का उपकार करता है। प्रारंभ से ही जीवन और प्रकृति के मध्य गहरा संबंध रहा है। जैन धर्म में निष्प्रयोजन पृथ्वी को खोदने, पानी को बहाने, अग्नि को जलाने, वायु का संचार करने तथा वनस्पतियों को काटने में पाप माना गया है। गृहस्थों को आवश्यकता से अधिक इनके उपयोग का निषेध किया गया है। यदि मानव अपना धर्म मानकर इनका दुरुपयोग छोड़ दे तो पर्यावरण असंतुलन की समस्या स्वतः ही समाप्त हो जायेगी तथा मानव अपना विनाश स्वयं करने से बच सकेगा। वेदान्त के अनुसार पर्यावरण के सभी घटक ब्रह्म के ही अंश है। जैनाचार्यों ने भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति को एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की श्रेणी में रखा है। जैनाचार्यों की यह अवधारणा प्रकृति के घटकों की संरक्षा का सुदृढ़ उपाय है। जैनाचार्यों ने न केवल मानव के प्रति अपितु जीवमात्र के प्रति मित्रता की कामना की है। जैन धर्म का उद्घोष है–

"खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।।"

"सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।"

दुराग्रह और हठवादिता मानव का सबसे बड़ा शत्रु है। मैं जो कहता हूँ, वही सच है–यह कथन हठ का द्योतक है। जो दूसरा कहता है वह भी सापेक्ष सत्य हो सकता है। एक वस्तु में अनेक धर्म या गुण हैं। उनका कथन अनेक प्रकार से हो सकता है। एक वस्तु में सापेक्षता से विरोधी धर्म भी रह सकते हैं। एक व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र और पुत्र की अपेक्षा पिता है। अतः उसमें पितृत्व एवं पुत्रत्व दोनों विरोधी धर्म एक साथ रह सकते हैं। हठवाद नहीं अपनाना चाहिए। हठवाद अधर्म है और वह मानव-कल्याण में बाधक है। 'ही' के स्थान

पर 'भी' की प्रतिष्ठा से हम अनायास ही अनेक समस्याओं से बच सकते हैं। संखिया आदि जो विष मारक हैं, उनका औषधि के रूप में प्रयोग जीवन रक्षक भी बन जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न धर्मों में प्रतिपादित बातों का हम मानव-कल्याण के लिए कथन कर सकें।

पदलोलुपता आत्मकल्याण एवं सामाजिक कल्याण में बाधक है। अतः पदलोलुपता से वचने का प्रयास करना चाहिए। जैन धर्म में साधु के तीन रूप हैं—आचार्य, उपाध्याय और सामान्य साधु। तीनों को परमेष्ठी माना गया है। पर चार मंगलों में अहिरंत, सिद्ध, साधु एवं धर्म को परिगणित किया गया है। आचार्य और उपाध्याय को मंगल न मानने का एकमात्र कारण यही है कि पद एक उपाधि है। वह मुक्ति या आत्मकल्याण में बाधक है। मुक्त होने के लिए तो आचार्य एवं उपाध्याय को भी अपना पद त्यागकर साधुसामान्य की श्रेणी में उतरना पड़ता है।

अतः पद को कल्याण में साधक न मानकर बाधक ही समझना चाहिएं तथा मानवधर्मी को पदलोलुपता के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।

भगवान् महावीर के शासन में भाग्य की महत्ता होते हुए भी यह समझने की आवश्यकता है भाग्य पुरुषार्थ के आधीन है। वर्तमान का भाग्य यदि पूर्व पुरुषार्थ का फल है तो वर्तमान का पुरुषार्थ भविष्य का भाग्य। वर्तमान में भी भाग्योदय को पुरुषार्थ द्वारा अन्य रूप में परिणमित किया जा सकता है। अतः पुरुषार्थ की महत्ता भाग्य से कदाचित् अधिक है। मानव को चाहिए कि वह फल की इच्छा के बिना पुरुषार्थ करे। पुरुषार्थ से ही अपना और अन्य मानवों का कल्याण हो सकता है।

हमें अन्धविश्वास या रूढिवादिता को धर्म मानने की नासमझी छोड़ना होगी। ज्ञान का प्रचार-प्रसार इस दिशा में कारगर हो सकता है।

रूढिवादिता को धर्म मानने से मानव समाज की बड़ी हानि हुई है। अपनी संख्या बढ़ाने, सम्पत्ति या सत्ता हथियाने का हथकण्डा बनाकर धर्म जैसे पवित्र भाव को आधार बनाकर जिन्होंने जब कभी घृणा फैलाई है, वह हथकण्डा उन्हीं को आत्मघाती सिद्ध हुआ है। धर्म तो प्राणीमात्र का भला करने वाली औषधि है, उसे संहारक विष नहीं बनने देना चाहिए। पुराना अच्छा ही हो यह आवश्यक नही है। सब नया खराब ही हो यह भी सिद्ध नहीं है। सत्य की खोज में तर्क-वितर्क बुरे नहीं हैं, किन्तु उनका लक्ष्य मानव-कल्याण होना चाहिए। आचार में गिरावट को पञ्चाणुव्रतों–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य के परिपालन से रोका जा सकता है। महर्षि पंतजलि ने योगसूत्र में इनकी महत्ता का प्रतिपादन किया है। अपरिग्रह को समझने की आवश्यकता है। **जरूरत की चीजों को रखना गृहस्थ की प्रकृति है, जरूरत से अधिक रखना विकृति है पर जरूरत होने पर भी स्वपर कल्याण हेतु अपनी प्रिय वस्तु का दान कर देना भारतीय संस्कृति है।** यही मानवधर्म है। अपरिग्रह को न समझ पाने का ही यह दुष्परिणाम है कि एक बाप अपने तीन-चार बेटों की परवरिश अच्छी तरह से कर सकता है जबकि तीन-चार बेटे मिलकर भी एक बूढ़े बाप की परवरिश करने में आनाकानी करते हैं। मानवधर्म की संस्थापना के लिए आवश्यक है कि युवाओं को मानवधर्म का रसायन पिलाया जावे। क्योंकि बच्चों का अतीत नहीं होता है तथा बूढ़ों का भविष्य नहीं होता है, जबकि युवाओं का अतीत भी होता है और भविष्य भी। अतः मानवधर्म के सच्चे पात्र युवा हैं।

जैन धर्म में प्रतिपादित मानव धर्म के कतिपय निष्ठा सूत्र इस प्रकार–

1. हिंसा सबसे बड़ा पाप है और अहिंसा एक सकारात्मक एवं व्यावहारिक जीवन-दर्शन है।
2. समता धर्म है और विषमता अधर्म है। मानव स्वरूपतः समान है, अतः ऊँच-नीच का वर्गभेद स्वार्थप्रेरित है।

3. कोई जाति गर्हित नही है, गुण ही कल्याण में कारण हैं। व्रतस्थ चाण्डाल भी ब्राह्मण हो सकता है।

4. नारी धर्म की धुरी है। मानव में प्रेम एवं सन्तति में संस्कार का संचार नारी ही करती है।

5. परस्परोपग्रह की भावना से पर्यावरण संरक्षण होता है तथा पर्यावरण संरक्षण से मानव-कल्याण।

6. हठवादिता धर्म नही है। 'ही' के स्थान पर 'भी' की प्रतिष्ठा से अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है।

7. पदलोलुपना सामाजिक कल्याण में बाधक है।

9. रूढिवादिता धर्म नही है। तर्क-वितर्क भी वे ही अच्छे हैं, जिनका उद्देश्य मानव कल्याण हो।

10. पञ्चाणुव्रत या पंचशील आदर्श गृहस्थ की आचार संहिता है।

अन्त में मानव कल्याण की भावना भाता हुआ विराम लेता हूँ–

"क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः,
काले-काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारी च क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि।।"

पंडितप्रवर श्री सुमेरुचन्द दिवाकर की दृष्टि में भगवान् महावीर की जन्मभूमि

–डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

बौद्धिक प्रतिभा एवं प्रमाणिकता के धनी विद्वान् पंडित प्रवर श्री सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर सिवनी ने भ. महावीर की जन्मभूमि की प्ररूपणा दि. जैन आगम एवं जैनेत्तर साहित्य के संदर्भ में अमर कृति 'महाश्रमण महावीर' में की है। 'महाश्रमण महावीर' का प्रकाशन सन् 1968 में हुआ था। इसका पुर्नमुद्रण वर्ष 2002 में दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर एवं तीर्थंकर ऋषभ देव जैन विद्वत् महासंघ के सौजन्य से हुआ। पुस्तक में आमुख सहित 21 अध्याय हैं। अठारहवॉ अध्याय 'दया के देवता का अवतरण है, जो विवेच्य है। इसकी मान्यता दि. जैन आगम की निष्ठा/श्रद्धा है।'

आमुख के पृष्ठ 3 में 'जीवनी' के अर्न्तगत पं. जी ने स्पष्ट लिखा है कि भगवान् महावीर का जन्म बिहार प्रान्त के विदेह देश के कुण्डपुर नगर में ईसा पूर्व 599 में हुआ था–'सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेह-कुण्डपुरे' (आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दि) दशभक्तिसंग्रह, निर्वाण भक्ति-4)।[1] जयधवला पृष्ठ 78 के संदर्भ "कुण्डपुरपुरवरिस्सर- सित्तत्थक्ख द्वियस्य णाहकुल" के अनुसार भगवान् महावीर का जन्म नाथकुल में हुआ था। उनके पिता को कुण्डपुर के स्वामी सिद्धार्थ क्षत्रिय लिखा है।[2]

अध्याय अठारह 'दया के देवता का अवतरण' नाम से है। पृष्ठ 118 में 'कुण्डपुर का भाग्य' शीर्षक में हरिवंशपुराण में उसे सुख रूपी जल से परिपूर्ण कुण्डतुल्य कहा है–

सुखांभः कुंडमाभाति नाम्ना कुंडपुरं पुरम्।। (सर्ग-2, श्लोक-5)।[3]

कुण्डलपुर–तिलोयपण्णत्ति में कुण्डपुर का नाम कुण्डलपुर आया है– कुण्डले वीरो (549-4)।[4]

कुण्डलपुर जिस विदेह देश का अंग था उसके विषय में पं. जी ने हरिवंशपुराण श्लोक।, सर्ग-2 का उल्लेख किया है—

अथ देशोस्ति विस्तारी जंबुद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यातः स्वर्गखंडसमः श्रियः। (सर्ग-2 श्लोक 1)

जम्बूदीप के भारतवर्ष में विस्तार युक्त विदेह नाम का देश प्रसिद्ध था, जो लक्ष्मी से स्वर्ग के खण्ड समान शोभायमान होता था।[5]

विदेह देश का कथन वर्धमान चरित्र श्लोक- 1 सर्ग- 17 में हुआ है, जहाँ विश्व विख्यात कुण्डपुर नगर था—

'ख्यातं पुरं जगति कुंडपुराभिधानं (7-7)।[6]'

विदेह देश की स्थापना एवं उसके वैभव के वर्णन के पश्चात् पं. जी ने उत्तर पुराण पर्व 74 के श्लोक 251-252 को उद्धृत कर लिखा कि 'जब अच्युतेन्द्र की आयु छह माह शेष रह गई थी और वह स्वर्ग से अवतार लेने के सन्मुख हुआ। उस समय भरत क्षेत्र के विदेह नाम के देश में कुंडपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के प्रांगण में प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ मणियों की वर्षा होने लगी थी।[7]' रत्नों की वर्षा की पुष्टि वज्जिकांचल के वासोकुण्ड-वैशाली के लोक गीतों से भी होती है।

विदेह देश की स्थिति/परिसीमा :

पं. प्रवर दिवाकर जी ने 'महाश्रमण महावीर' पृष्ठ 120 में भ. महावीर की जन्म भूमि विदेह देश की चतुर्सीमा का निर्धारण 'बिहार थ्रो दि एजेज' पृष्ठ 51-55 के अनुसार निम्न प्रकार से किया!

'जिसे अभी विहार कहते हैं उसमें कारूप, मगध, अंग, वैशाली आदि अनेक देश समाविष्ट थे। वर्तमान तिरहुत डिवीजन में विदेह अतमूर्त है। विदेह की राजधानी मिथिला थी। वह नेपाल की तराई में विद्यमान जनकपुरी मानी जाती है। कुछ समय के अनंतर दक्षिण विदेह

ने स्वतंत्र राज्य का स्वरूप प्राप्त कर लिया। उसकी राजधानी वैशाली हो गई, जो मुजफ्फरपुर से तेवीस मील पर स्थित है।'[9]

'शक्ति संगम' के अनुसार गंडक नदी के तट से लेकर चंपारण पर्यन्त का स्थान विदेह अथवा तिरूमुक्ति कहा जाता था। उसके पूर्व पश्चिम तथा दक्षिण में कोसी, गंडक तथा गंगा तीन बड़ी नदियॉ हैं तथा हिमालय की तराई उत्तर की ओर है। इस क्षेत्र में मुजफ्फरपुर, दरभंगा, चंपारन, मुंगेर तथा पुरनिया ये वर्तमान जिले शामिल होते हैं।'[10] (वर्तमान में मुजफ्फरनगर-जिला में से वैशाली पृथक् जिला बना दिया गया है)

जन्मभूमि के सम्बन्ध में पं. जी के निष्कर्ष :

पं. प्रवर दिवाकर जी ने विदेह देश की उक्त-चतुर्सीमा निर्धारित कर महावीर की जन्मभूमि के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष ग्रहण किये–

''इस विश्रुत विदेह देश के कुण्डपुर में त्रिशलानन्दन का अवतरण हुआ था। कुछ लोग कुण्डपुर जिले को वैशाली नगरी का एक अंश कहते हैं। वे मुजफ्फरपुर के हाजीपुर सब डिवीजन में स्थिति बसाढ़ को वैशाली मानते हैं और उसके अंतरगत वासुकुण्ड को कुण्डग्राम कहते हैं।''[11]

दिगम्बर जैन आगम में महावीर का नहीं, उनकी जननी प्रियकारिणी त्रिशला का भी वैशाली से सम्बन्ध पाया जाता है। (संदर्भ-हरिषेणचार्यकृत वृहत्कथा कोप श्लोक 165)।[12] श्री दिवाकर जी ने 'लाइफ आफ बुद्धा' के अनुसार वैशाली के वैभव का वर्णन पृष्ठ 121 पर किया और वैशाली को जन्मभूमि मानने की विशिष्ट परिस्थिति मजबूत बनने का उल्लेख किया जिसका आधार श्वेताम्बर आगम है। उनके इस संकेत से यह स्पष्ट है कि उन्हें जिस प्रकार मगध देश स्थित नालंदा-बड़गांव भ. महावीर की जन्म भूमि इष्ट नहीं है उसी प्रकार वैशाली भी इष्ट नहीं है। उन्होंने विदेह देश की परिसीमा में स्थित वासोकुण्ड के सम्बन्ध में अपनी असहमति व्यक्त नहीं की। उनकी यह मूक सम्मति वासोकुण्ड स्थित अढ़ाई बीघा अहल्लभूमि, वहॉ के लोक जीवन मे महावीर के दर्शन/शिक्षाओं का प्रभाव

तथा लोकगीतों में महावीर की विद्यमानता आदि के परिप्रेक्ष्य में दिगम्बर जैन आगम के अनुरूप जन्मभूमि सिद्ध है। यहाँ पर प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी ने दिनांक 23/4/56 को भ. महावीर जन्मभूमि स्मारक-पट्ट का अनावरण किया।[13]

कुण्डपुर (वासोकुण्ड) समर्थक पं. जी के अन्य संदर्भः

1. **'भगवान महावीर और उनका तत्त्वदर्शन'** सन 1974 में पूज्य आचार्य देश भूषण जी मुनिराज के मार्गदर्शन एवं प्रेरणा से यह बृहत्काय ग्रंथ दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसकी प्रस्तावना[14] पं. श्री दिवाकर जी ने लिखी। ग्रंथ की सम्पूर्ण सामग्री भ. महावीर को समर्पित है। इसमें उनकी जन्मभूमि वासोकुण्ड निर्विवाद रूप से वर्णित है। यदि श्री दिवाकर जी को यह इष्ट नहीं होता तो वे इसकी भूमिका लिखने से इन्कार कर देते या वे इसके विरोध में अपना मत अवश्य व्यक्त करते।

2. **'चारित्र चक्रवर्ती'** आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज के मंगलमय जीवन चरित्र का विस्तृत वर्णन, तिथिवार श्री पं. दिवाकर जी द्वारा चारित्र चक्रवर्ती (1953) पुस्तक में किया गया। आचार्य श्री का संघ शिखरजी से भागलपुर होता हुआ राजगृही पहुँचा। वहाँ से पावापुरी, गुणावा, गया होकर कटनी पहुँचा।[15] इस यात्रा में कुण्डलपुर-नालंदा का नाम नहीं है। यदि इसे महावीर जन्म भूमि के रूप में मान्यता होती तो आचार्य संघ की यात्रा में उसका अवश्य उल्लेख होता।

3. श्री दिवाकर जी कृत 'जैन शासन' के पृष्ठ 253 में सं. 1867 (ई. 1810) में मैनपुरी के साहू धनसिंह जी के नेतृत्व में 250 बैल गाड़ियों में एक हजार यात्रियों के संघ की सम्मेद शिखर जी की यात्रा का उल्लेख है। यह संघ पावापुरी, राजगृही, गुणावा आदि स्थानों पर गया।[16] किन्तु इस यात्रा में कुण्डलपुर-नालंदा का उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट है कि कुण्डलपुर-नालंदा मगध क्षेत्र में तो है ही, आरोपित रूप से जन्म स्थली के रूप में बहुत पुराना नहीं है।

4. अन्य पुष्ट कारण साक्ष्य/संदर्भ : नालंदा से 7 मील की दूरी पर स्थित राजगृही मगध की राजधानी थी। मगध देश का विस्तार 833 वर्ग मील का। नालंदा उसका अंग था। नालंदा प्रथम शताब्दि से 13 वीं शताब्दि तक बौद्ध-विद्या का महान केन्द्र रहा जहाँ हुआन-सांग (सातवीं शताब्दि) ने विद्याध्ययन किया। चीनी यात्री हुआन सांग और फाहियान (5 वीं शताब्दि) के यात्रावृत्त और उनका भौगोलिक विवरण अकाट्य/ यथा-स्थान स्थिति है। इसका विवरण जनरल कनिंघम कृत 'दॉ एन्सियेन्ट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया' में दिया है, जो मूलतः पठनीय है।[17] श्री नन्दलाल दे के अनुसार वरगांव का प्राचीन नाम बिहार ग्राम था।[18] डॉ. होर्नले ने यह सिद्ध किया कि भ्रमवश जैन समाज द्वारा बरगांव को कुण्डलपुर मानकर उसे महावीर की जन्मभूमि मान लिया गया; उसी प्रकार हिन्दुओं द्वारा उसे कुण्डिनापुर मानकर रुक्मणी की जन्मभूमि माना जाता रहा। यह दोनों मान्यताएँ भ्रम आधारित हैं। यथार्थ तथ्यों से उसकी पुष्टि नहीं होती।[19]

5. इतिहासमनीषी डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी का इतिहास के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान है और वे एक प्रमाण के रूप में मान्य किये जाते है। आपकी अमर कृति 'हिन्दु सिविलाइजेसन्स' है जो सन 1936 में लोंगमेन ग्रीन एण्ड के. लंदन द्वारा प्रकाशित की गयी है। इसके संदर्भ प्रामाणिक माने जाते हैं। इस कृति के अध्याय सात में ईसा पूर्व 650-325 का उत्तर भारत काल के इतिहास का विस्तृत ससंदर्भ विवरण दिया है। इसमें बुद्ध के पूर्व के निम्न सोलह राज्य का वर्णन किया है–

अंग, मगध, काशी, कौशल, वज्जी, मल्ल, चेदी, विंसा (वत्स), कुरू, पंचाल, मच्छ (मत्स्य), सूरसेन, अस्क, अवंती, गांधार एवं कम्भोज![20]

इन राज्यों का वर्णन तो हुआ है साथ ही उस समय की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन भी किया है जो मूलतः पठनीय है। पुस्तक में पृष्ठ 179 के वाद बुद्धकालीन मानचित्र भी दिया है। इसके अनुसार राजगृह नालंदा, चंपा और पाटलीग्राम गंगा नदी के दक्षिण में है और वैशाली लिच्छवी मल्ल, पावा आदि गंगा नदी के उत्तर

में दिखाये गये हैं बुद्ध महावीर के समकालीन थे अतः बुद्धकालीन मानचित्र महावीर कालीन मानना सर्वथा उचित है। फाहियान के यात्रा वृत्त से भी मानचित्र में दर्शाये नगरों की भौगोलिक स्थति पुष्टि होती है। इस प्रकार नालंदा-कुण्डलपुर मगध क्षेत्र में होने के कारण उसे किसी दूर की कल्पना से भी विदेह-देश स्थित नहीं माना जा सकता। यही दृष्टिकोण पं. प्रवर सुमेरु चन्द्र जी दिवाकर सा. का रहा है। प. जी सा. के निष्कर्षानुसार प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती जी एवं त्रिलोक शोध संस्थान सन 2001 तक वैशाली के निकट कुण्डपुर को भ. महावीर की जन्म स्थली मानते हैं।[21]

6. बिहार राज्य के पर्यटन विभाग ने सन 2003 में लघु पुस्तिका 'जैन सर्किट' प्रकाशित की है, जो सचित्र है। इस पुस्तिका में वासोकुण्ड-वैशाली को भ. महावीर की जन्म भूमि तथा नालंदा-कुण्डलपुर को भ. महावीर के प्रथम पट्ट शिष्य गौतम गणधर की जन्म भूमि होना दर्शाया है। यह ध्यातव्य है कि बरगवॉ में गौतम गणधर के वंशज अभी भी विद्यमान हैं और पुत्रोत्सव के सौहर गीतों में गौतम का स्मरण किया जाता है।

7. जैन इतिहासकार डॉ. ज्योति प्रसाद जैन द्वारा 50 वर्ष पूर्व भारतीय इतिहास का जैनयुग आलेख/पुस्तिका लिखी थी। उसमें आपने वज्जी संघ के अर्न्तगत कुण्डलपुर स्थित होना मान्य किया है। कुण्डलपुर के ज्ञातृवंशी लिच्छवि-नरेश सिद्धार्थ के पुत्र (भगवान्) महावीर थे। वैशाली के राजा चेटक उनके नाना थे।[23]

उक्त परिप्रेक्ष्य में पं. प्रवर श्री दिवाकर जी की दृष्टि में भ. महावीर का जन्म विदेह देश स्थित कुण्डपुर नगर (वासोकुण्ड) में हुआ था। विद्यमान नालंदा-बड़गांव उदात्त आगमिक एवं भौगोलिक दृष्टि से विदेह देश में स्थित होना सिद्ध नहीं होता, भले ही उसकी सिद्धि हेतु कूट लेखन का आश्रय लें या विदेह को सम्पूर्ण बिहार राज्य मानें या फिर नालंदा को गंगा नदी के उत्तर में दिखाकर उसे विदेह में स्थित होना सिद्ध करें। प्रायोजित बौद्धिक कसरत से आगम वर्णित भौगोलिक स्थिति बदली नहीं

जा सकती। इससे दिगम्बर जैन आगम के प्रति अश्रद्धा/अवर्णवाद अवश्य होता है। जन्मभूमि प्रतिष्ठा से कहीं अधिक, प्रतिष्ठा का विषय दिगम्बर जैन आगम एवं संस्कृति के प्रति हमारी निष्ठा का है आगम रक्षा एवं सम्मान में ही समाज की रक्षा और सम्मान है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. महाश्रमण महावीर–पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर, पृष्ठ–आमुख 3
2. वही–आमुख पृष्ठ 3
3. वही–पृष्ठ 119
4. वही–पृष्ठ 119
5. वही–पृष्ठ 119
6. वही–पृष्ठ 119
7. वही–पृष्ठ 120
8. महाश्रमण महावीर–पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर, पृष्ठ 120
9. वही–पृष्ठ 120
10. वही–पृष्ठ 120
11. वही–पृष्ठ 120
12. वैशाली महोत्सव के 50 वर्ष–डॉ. जय श्री मिश्र, पृष्ठ 103
13. भगवान् महावीर और उनका तत्वदर्शन–सम्पादन पं. बलभद्र जैन–प्रस्तावना पृष्ठ-3
14. चारित्र चक्रवर्ती-प्रथम आवृत्ति, पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर, पृष्ठ 213-228
15. जैन शासन,–पं. सुमेरुचन्द दिवाकर पृ. 253
16. दॉ एनसिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया–जनरल अलेक्जेन्डर कनिंघम पृ. 327।
17. दॉ ज्योग्राफिक्स डिक्सनरी ऑफ एन्सिएन्टएन्ड मेडिकल इंडिया–दे नन्दलाल, पृ. 136
18. वही–पृष्ठ 137
19. हिन्दु सिविलाइजेसन्स–डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी पृ. 179-189
20. माता त्रिशला के अनोखे सपने,–दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर पुष्प नं. 214, पृ.–9
21. जैन सर्किट–बिहार पर्यटन, सचिव पर्यटन विभाग बिहार–पटना
22. अनेकान्त–दिल्ली, 58/1-2/, भारतीय इतिहास का जैनयुग–डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, पृष्ठ–114

हिन्दु सिविलाइजेशन डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी; से उद्धृत
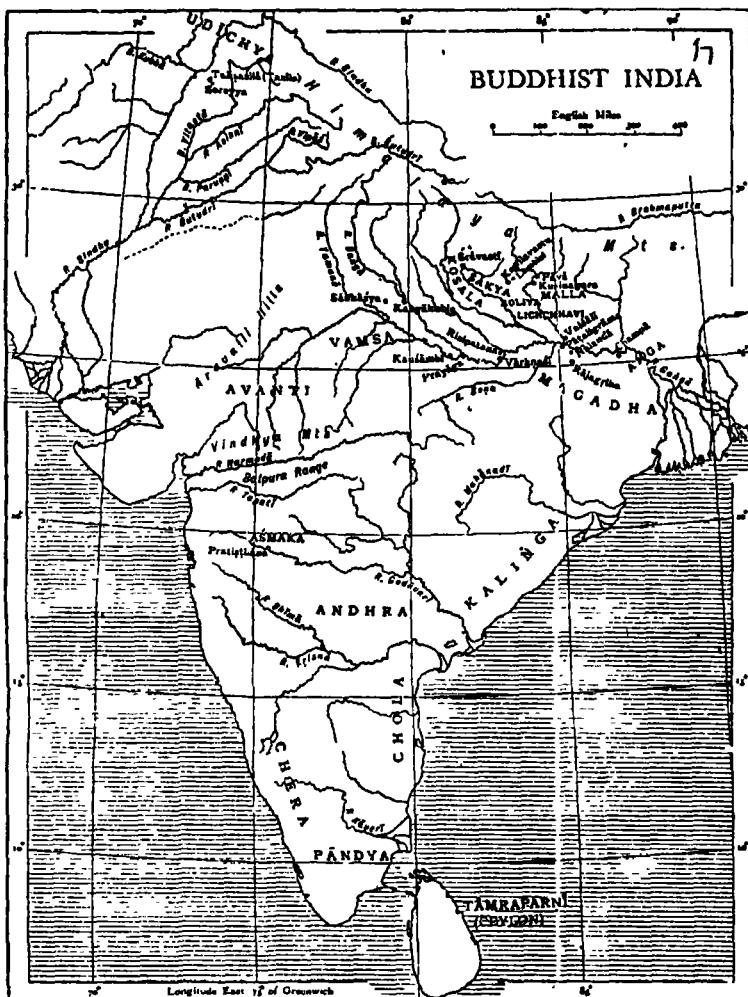
वी 369 ओ.पी.एम.
अमलाई, जिला-शहडोल (म.प्र.) 484117

दूध शाकाहार है : वैज्ञानिक तथ्य

–ऐलक निर्भयसागर महाराज

लेखक एम. एस-. सी. पूर्वार्द्ध तक लौकिक शिक्षा प्राप्त कर दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज से दीक्षित एक जैन संत हैं। ऐलक जी आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक शैली की त्रिवेणी से सहित उत्कृष्ट आत्मसाधक, लेखक और प्रवचनकार हैं। धर्म की बात वैज्ञानिक ढंग से व्याख्यायित करना आपकी विशेषता है। आपने मौन, उपवास, रात्रि, भोजन, शराब, पूजा विधि आदि पर विशिष्ट वैज्ञानिक साहित्य का सृजन किया है। वर्तमान में दूध को मांसाहार कहने पर उठे प्रश्न का जवाब वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत आलेख में दिया है कि दूध शाकाहार की श्रेणी में आने वाला रस है।

–सम्पादक

दूध शाकाहार की श्रेणी में है या मांसाहार की। ये आधुनिक युग के लोगों का प्रश्न हो सकता है, परन्तु यह अनादिकालीन शाश्वत सिद्धांत है कि सही रीति से प्राप्त किया गया दूध मांसाहार नहीं है बल्कि शाकाहार की श्रेणी में आने वाला शुद्ध रसाहार है, और वह स्तनधारी प्राणियों के जन्म से ही पोषण और तन्दरुस्ती के लिए प्रकृत्ति प्रदत्त लाभदायक पेय पदार्थ है।

आज भौतिकवादी अर्थ प्रधान युग में दूध को पानी, तेल, यूरिया, साबुन आदि मिलाकर बेंचा जा रहा है या इंजेक्शन लगाकार निकाला जा रहा है, या बछड़े को दूध नहीं छोड़ा जा रहा है, तो इसका मतलब ये नहीं कि दूध अभक्ष्य और मांसाहार हो गया है। इस प्रकार की स्थिति से बचने के लिए घरों में गायों को पालकर न्याय–नीति और विधि पूर्वक शुद्ध दूध प्राप्त किया जाना चाहिए, न कि भड़काऊ, अश्रद्धा उत्पन्न करने वाले भाषण या आलेख लिखे जायें।

दूध दर्द नहीं दवा है :

एक आलेख में पढ़ा था कि दूध तरल मांस है और उसके सेवन से एसिडिटी, कैल्शियम की कमी, कैंसर और गुर्दे खराब होते हैं। ऐसा कहना सरासर गलत है क्योंकि दूध से एसिडिटी नहीं होती, बल्कि दूध से ऐसिडिटी कम होती है। इसको कोई भी व्यक्ति अपने ऊपर प्रयोग करके देख सकता है, जिसे एसिडिटी के कारण खट्टी डकारें, पेट में जलन आदि हो रही हो वह दूध में आधा या एक चौथाई पानी और मीठा मिलाकर, उसे अच्छी तरह से उबालकर फिर ठण्डा करके पिये तो ऐसिडिटी, मुँह और पेट के छाले समाप्त हो जाते हैं।

दूध अम्लीय होता है परंतु जब वह पेट में जाता है तब पाचक रसों के मिश्रण से दही बनकर उदासीन हो जाता है, वह हड्डियों में कैल्शियम का क्षय करके उदासीन नहीं होता। अतः शरीर की हड्डियों से कैल्शियम के क्षरण द्वारा दूध का उदासीन मानना गलत है। इस प्रकार दूध से हड्डियाँ कमजोर नहीं बल्कि मजबूत होती हैं, यह अनुभव मैंने स्वयं किया है।

सन् 1987 में मुझे सफेद पेचिस पड़ने लगी थी, डॉक्टर की सलाह से दूध का सेवन प्रायः बंद कर दिया था। परिणाम स्वरूप रीढ़ की हड्डियाँ (कशेरूकाऐं) कमजोर पड़ गईं, उनका क्षरण होने लगा। ब्लड सीरम में कैल्शियम की मात्रा 11% की जगह घटकर मात्र 6-7% रह गई। मैंने पुनः दूध पीना शुरू कर दिया तो एक वर्ष में सब ठीक हो गया। इस बीच मैंने यह जरूर देखा कि दूध के साथ दालों का प्रयोग करने से पाचन बिगड़ता है क्योंकि दूध और दाल दोनों के प्रोटीन भोजन में एक साथ लेने से डाइजेस्ट नहीं हो पाते। अतः दूध और दालों के सेवन में लगभग 5-6 घंटे का अंतर होना चाहिए।

जब पाचन तंत्र कमजोर हो और आवश्यकता से अधिक दूध, घी, तेल, मिर्च, मसाला और दालों का सेवन किया जाता है तब उन्हें पचाने के लिए पाचन तंत्र और यकृत को अधिक कार्य करना पड़ता है, जो हड्डी, यकृत और पाचनतंत्र आदि के लिए हानि पहुँचाता है, परंतु

संतुलित मात्रा में यथाविधि ग्रहण किये गये दूध में उपस्थित प्रोटीन और खनिज–कमजोरी, थकान, तनाव, और कैल्शियम आदि की कमी को दूर करते हैं। इसलिए दूध से नहीं बल्कि मिर्च मसाला, मांस, मदिरा आदि और प्रकृति विरुद्ध या अधिक मात्रा में भोजन करने से पाचन तंत्र और गुर्दे आदि खराब होते हैं।

दूध के गुण :

दूध मधुर, स्निग्ध, रुचिकर, स्वादिष्ट और वातपित्त नाशक होता है। वीर्य, बुद्धि और कफ वर्धक होता है, शीतलता, ओज, स्फूर्ति और स्वास्थ्य प्रदायक होता है। माँ (स्त्री) और गाय का दूध गुण धर्म की दृष्टि से समान होता है। उसमें विटामिन ए और खनिज तत्व होते हैं जो रोगों से लड़ने की शक्ति (प्रतिरोधक क्षमता) प्रदान करते हैं और आँखों के तेज को बढ़ाते हैं।

दूध रक्त नहीं शुद्ध रस है :

दूध रक्त नहीं है इसका सबसे बड़ा वैज्ञानिक प्रमाण तो यह है कि दूध में जो केसीन नामक प्रोटीन उपस्थित रहता है वह खून और मांस में नहीं पाया जाता है। रक्त कणिकायें (डब्लू. बी. सी., आर. बी. सी) एवं प्लेटिलेट्स जो खून में पायी जाती हैं वे दूध में नहीं पायी जाती हैं। यह बात वैज्ञानिकों ने दूध में बेजोइक टेस्ट (परीक्षण) करके बतायी है। यह परीक्षण कोई भी पैथोलॉजी लेब में किसी भी डॉक्टर से कराकर देख सकता है। अतः दूध एनीमल प्रोडक्शन होने पर भी रक्त मांस से बिल्कुल भिन्न एक शुद्ध रस है।

वैज्ञानिकों का यह भी एक सार्वभौमिक सिद्धांत है कि माँस में जंतु कोशिकायें और वनस्पतियों में पादप कोशिकायें होती हैं, जबकि दूध में पादप (वनस्पति) कोशिकाओं के समान ही वैसीलस कोशिकायें होती हैं। उन दोनों के मध्य दीवार, रिक्तिकायें, सेंट्रिकायें, लवक और पोषण विधि

समान होती हैं और वे दोनों जंतु कोशिकाओं से बिल्कुल भिन्न होती हैं। इसलिए दूध तरल मांस न होकर वनस्पति स्वरूप ही शुद्ध रस है।

यदि कोई कहे कि दूध में वे सभी प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेटस और शर्करा आदि तत्व पाये जाते हैं जो खून में पाये जाते है अतः दोनों एक है। यदि यह तर्क सही है तो वे सभी तत्व हरे या भिगोये हुये सोया, गेहूँ, चना आदि अनाज में भी पाये जाते है फिर उन्हें भी मांसाहार कहना पड़ेगा। परन्तु नहीं कह सकते क्योंकि वे शुद्ध शाकाहारी पदार्थ ही हैं।

यदि कोई तर्क करे कि नलिकाओं और उनकी झिल्लियों से होकर दुधारुप्राणी द्वारा खाये पदार्थों के रस से दूध बनता है, इसलिए वह रक्त मांस के समान है, तो ऐसा तर्क भी अनुचित है, क्योंकि ऐसा कहने पर हमारे शरीर के अंदर से रक्त, मांस और झिल्लियाँ से होकर पसीना और यूरिन आदि भी बाहर उत्सर्जित होता है फिर उसे भी रक्त मांस कहना पड़ेगा, लेकिन कोई अज्ञानी बालक भी ऐसा नहीं कह सकता। तो फिर क्या यूरिन, पसीना और भोजन से बचे अवशिष्ट पदार्थ भी भक्ष्य हैं? नहीं, क्योंकि वे मल हैं और मल द्वार से निकासित होते हैं, अतः वे पूर्णतः अभक्ष्य हैं। जबकि दूध मल न होकर रस है और दूध ग्रंथिं मल द्वार न होकर एक पवित्र ग्रंथि है, उससे निकाला गया दूध भक्ष्य है।

दूध बनने की प्रक्रिया :

अमेरिका स्थित वैवॉक इंस्टीट्यूट फॉर इंटरनेशनल रिसर्च एण्ड डेवलपमेंट विशेषज्ञ 'माइकल वैटी ऑक्स' शोधकर्तानुसार जब 400 से 500 कि. ग्रा. रक्त दुग्ध ग्रंथियों से प्रवाहित होता है तब एक किलोग्राम दूध बनता है, बल्कि दुग्ध ग्रंथियों में बारीक–बारीक रक्त नलिकाओं का जाल बिछा रहता है, उन दुग्ध ग्रंथियों और रक्त नलिकाओं के बीच एक झिल्ली होती है। यदि बीच में झिल्ली नहीं होती तो दूध और रक्त एक हो जाता और फिर दूध सफेद न होकर रक्त जैसा लाल हो जाता। अतः रक्त से दूध भिन्न है।

दूध बनने की प्रक्रिया में माइकल वैरी ऑक्स ने जो विचार दिया है वह उनका अपना हो सकता है, परंतु सत्य बात तो यह है कि दूध वने या न बने, परन्तु समस्त प्राणियों के शरीर में रक्त प्रवाह होता ही रहता है। यदि प्रवाह रुक जाये तो प्राणियों का जीवन ही समाप्त हो जायेगा। मनुष्य के शरीर में हृदय द्वारा एक घंटे में लगभग 2 टन खून पंप किया जाता है, जो अंदर की रक्त नलिकाओं से प्रवाहित होकर बाहरी रक्त नलिकाओं से होकर हृदय तक पहुँचता है। वे बारीक रक्त नलिकाएँ स्तनधारी प्राणियों की दुग्ध ग्रंथियों से होकर गुजरती है और लेक्टेटिंग हार्मोन्स से दूध का निर्माण होता है जो रस के रूप में दुग्ध ग्रंथि में संग्रहीत हो जाता है।

अतः दूध का निर्माण रक्त से नहीं होता बल्कि स्तनधारी प्राणियों के गर्भ धारण करने के उपरांत शाकाहारी की श्रेणी में आने वाले लेक्टेटिंग हार्मोन्स से होता है। वे हार्मोन्स रक्त से पूर्णतः अलग गुण धर्म वाले होते है। उनका एक निश्चित समयावधि में उत्पन्न होना प्रारम्भ होता है। उन्हीं की उपस्थिति में दूध का निर्माण और निकलना (सिक्रियेशन) होता है, न कि रक्त से। यदि रक्त से होता तो हमेशा ही सभी प्राणियो के होते रहना चाहिये, जबकि ऐसा नहीं होता। इसीलिए दूध रक्त मांस से अलग शुद्ध रस है।

चिकित्सा शास्त्र में दुग्ध निर्माण :

आयुर्वेदिक आदि चिकित्सा शास्त्रों में लिखा है कि मनुष्य तिर्यचादि प्राणी जो आहार ग्रहण करते है वह सबसे पहले रस और खल (मल-मूत्र) में परिवर्तित होता है फिर रस से रक्त, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र, क्रमशः इन सप्त धातुओं की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार आहार से सर्वप्रथम रस बनता है और उस रस धातु से स्तन्य (दुग्ध) रूप, उपधातु की उत्पत्ति होती है इसलिए ग्रहण किये गये भोज्य पदार्थों की गंध दूध में आती है रक्त में नहीं। यदि रक्त से दूध बनता तो उसमें गंध नहीं आना चाहिए।

दूध के संग्रह के लिए शरीर में ग्रंथियाँ होती हैं। उन दुग्ध ग्रंथियों और नलियों से लगी हुई झिल्लियों की दीवारों में बहुत सी रक्त शिराओं का जाल बिछा रहता है। उन्हीं शिराओं की दीवारों द्वारा जलीय अंश सोख लिया जाता है। वह वैसे ही सोख लिया जाता है जैसे कीचड़ से पेड़ की मूल शिरायें जलांश को सोख लिया करती हैं। इस प्रकार दूध एनीमल प्रोडक्ट होने मात्र से अपवित्र या अभक्ष्य नहीं हो जाता बल्कि वह शाकाहारवत् शुद्ध रसाहार के रूप में ग्राह्य है।

सभी प्राणियों को दूध अनुकूल :

यह सत्य है कि जैनेटिक ब्लूप्रिंट के अनुसार अपनी-अपनी प्रजाति की माँ का दूध सर्वोत्तम होता है। इसलिए गाय का बछड़ा गाय का दूध, बकरी का मेंमना बकरी का दूध, बिल्ली का बच्चा बिल्ली का दूध और शेरनी का बच्चा शेरनी का दूध पीता है। इस प्रकार सभी स्तन धारी प्राणियों की माँ अपने बच्चों के पोषण और विकास के लिए दूध देती हैं। परंतु स्त्री, घोड़ी, बकरी, कुत्ती, बिल्ली और शेरनी आदि न हों तो उनसे जन्में शिशु जो गाय के दूध से पाले जाते रहे हैं और आगे भी पाले जाते रहेंगे, यह सारी दुनिया जानती है। क्योंकि गाय का दूध सभी प्राणियों को अनुकूल पड़ता है और पर्याप्त मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है उसके आलावा अन्य प्राणियों का दूध प्रतिकूल और अपर्याप्त होने से सेवन नहीं किया जाता।

दूध माँ का हो या गाय का उसके सेवन करने की एक निश्चित मात्रा होती है। यदि मात्रा से अधिक ग्रहण किया जायेगा तो लाभ की जगह हानि पहुँचाएगा। दूध ही क्यों अन्न, काजू, किसमिस, बादाम आम, केला गेहूँ, चना और गुड़, तैल आदि पौष्टिक पदार्थों का मात्रा से अधिक सेवन लाभ की जगह हानि ही पहुँचाएगा। इसलिए ''हितमित भुख'' अर्थात थोड़ा और हितकारी भोजन करने को कहा है।

यदि दूध 6 से 8 घंटे में पचता है, ऐसा तर्क देकर दूध को

असेवनीय (अभक्ष) कहा जाता है तो फिर शक्ति वर्धक बादाम, काजू, मूँगफली आदि जो 10-12 घंटे में पचते हैं वह भी अभक्ष्य हो जायेंगे। क्योंकि जो-जो पाचन संबंधी परेशानियां दूध के पाचन से आती हैं, उससे कहीं अधिक परेशानियां फेटयुक्त ड्रायफ्रूट्स में आती हैं। अतः ऐसा कुतर्क उचित नही है।

यदि किसी के बेटे ने जन्म से दूध नहीं पिया और वह स्वस्थ 6 फीट का है तो यह भी देखना चाहिए कि वह खाता क्या क्या है। क्या वह सब एक गरीब आदमी के बेटे को संभव है? जिस माँ ने बचपन से दूध नहीं पिलाया हो तो बड़े होने पर वह पचता भी नहीं, एसीडिटी होती है और गैस आदि की अनेक समस्याऐं उत्पन्न होतीं हैं, इसका मतलब यह नहीं कि सभी के लिए नहीं पचता और सभी के लिए अभक्ष्य हो। इसमें दूध का दोष नहीं बल्कि पीने वाले का दोष है।

मानव को दूध आवश्यक क्यों :

शिशु अवस्था में लेक्टेस एंजाइम का पर्याप्त मात्रा में स्राव होता है। वे ही एन्जाइम दूध को पचाते हैं, इसलिए बच्चों को वह पूर्ण आहार होता है, लेकिन जैसे-जैस उम्र बढ़ती जाती है, वैसे-वैस लेक्टेस एन्जाइम के स्राव की मात्रा घटती जाती है। फिर भी निरंतर दूध पीने वालों को वह पचता रहता है। दुग्ध एक पूर्ण आहार है क्योंकि शरीर को पुष्ट और स्वस्थ रखने के लिए जितने प्रोटीन, विटामिन और खनिज तत्वों की आवश्यकता होती है, वे सभी दूध में पाये जाते हैं।

यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया में क्लीनिकल इम्यूनोलॉजी के प्रोफेसर डॉ. ट्यूबर कहते हैं कि जों वयस्क आदतन दूध और उससे बने उत्पादों का सेवन करते हैं, उनके लेक्टेस एंजाइम सक्रिय बने रहते हैं और दूध पचता रहता है, परंतु जो बाल्यावस्था के बाद दूध का सेवन बंद कर देते हैं उनके लेक्टेस एंजाइम का संश्लेषण बंद हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को डायरिया और पेट दर्द आदि बीमारी के लक्षण दूध

पीने के बाद दिखते हैं। दूध नहीं पचा सकने वाला व्यक्ति यदि (चावल रोटी अदि के साथ) थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते हुये क्रम से दूध का सेवन करता है, तो लेक्टेस एंजाइम की पर्याप्त मात्रा हो जाती है और परिणाम स्वरूप दूध पचने लगता है।

जैनाचार्यों की दृष्टि में दूध :

दिगम्बर जैनाचार्य सोमदेव सूरि महाराज ने यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य के 7 वें अध्याय में लिखा है कि-

शुद्धं दुग्धं न गो मांसं वस्तु वैचित्र्यमीदृशम्।
विवध्वं रत्न माहेयं विषं च विपदे मतः।। 354।।

अर्थात्–दूध शुद्ध है मांस अशुद्ध है यही तो वस्तु स्वरूप की विचित्रता है। जैस साँप के फण में नागमणि होती है और विष भी होता है। विष तो प्राणी को मार देता है, जबकि नागमणि विष के जहर को मार देती है और प्राणी को बचा लेती है। इस प्रकार वस्तु स्वरूप के अनुसार जैसे साँप की मणि ग्राह्य है और विष त्याज्य है, वैसे ही प्राणी का दूध तो ग्राह्य है और मांस त्याज्य है। इसी बात को और स्पष्ट करने के लिए आचार्य महाराज दूसरा उदाहरण देते हुये कहते हैं कि-

हेयः पलं पयः पेयं सत्यपि कारणे।
विष द्रोरायुषे पत्रं, मूलं तु मृतये मतम्।।

अर्थात–जैसे विष वृक्ष का पत्ता और उसकी जड़ इन दोनों के उत्पादक कारण एक ही वृक्ष है फिर भी विष वृक्ष का पत्ता अमृत तुल्य और आयु रक्षक है और जड़ जीवन नाशक होने से अभक्ष्य और त्याज्य है। इसी प्रकार दूध अमृत तुल्य होने से भक्ष्य है और रक्त, मांस विष तुल्य होने से अभक्ष्य है, जैनाचार्यो ने गुड़, तैल नमक इन तीन रसों की श्रेणी में दूध, दही और घी इन तीन रसों को रखकर कुल 6 रस कहे

हैं, अतः दूध, दही भी गुड़ आदि के समान सेवन करने योग्य रस है। दूध अमृत है ऐसा एक कथानक महाभारत में इस प्रकार मिलता है कि यक्ष ने युधिष्ठित से प्रश्न पूछा कि अमृत क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया गोरस (घी, दूध, दही)।

दिगम्बर जैनाचार्यों ने धवला आदि कई ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख किया है कि साग, अनाज, दूध आदि सचित्त पदार्थों को उबालकर जीवाणुरहित (अचित) प्रासुक किया जा सकता है, अतः दूध फलादि भक्ष्य है। मांस को अग्नि में भी रख देने पर भी जीवाणु रहित (प्रासुक) नहीं कर सकते, अतः मांसाहार अभक्ष्य है।

अहिंसक व्यवसाय है पशु पालन :

गाय, भैस आदि पशुओं को पालना उनका दूध दुहकर उपयोग में लाना और बैल आदि को खेती के काम में लाना जैन धर्म सम्मत है। दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेन स्वामी ने आदि पुराण के 16 वें पर्व के 184 वे श्लोक में लिखा है कि प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ स्वामी के समय जब भोग भूमि के बाद कर्मभूमि प्रारंभ हुई तब आदिनाथ स्वामी ने वर्ण व्यवस्था करके प्रजा को अपनी आजीविका चलाने असि, मसि, कृषि आदि षट्कर्म करने का उपदेश दिया। जो खेती, व्यापार और पशुपालन आदि करके आजीविका चलाते थे वे वैश्य कहलाये। अतः कृषि एवं पशुपालन करना एक अहिंसक और जैनागम सम्मत कार्य है।

दूध दुहाना आवश्यक क्यों :

दुग्ध ग्रंथि में संग्रहीत होने वाला अमृत तुल्य दूध दुहना अनिवार्य है। लेकिन दूध दुहने वाला यह ध्यान रखे कि पहले लगभग 1 माह तक बछड़े को पेट भरने तक दूध पिलाये और शेष दूध दुहले, उसके बाद जब बछड़ा बड़ा हो जाये और घास, रोटी आदि खाने लगे तब आधा या एक चौथई दूध पिलाये, शेष दुहले, परंतु इंजेक्शन लगाकर न दुहें।

गायों पर अनुसंधान करने वाले हनाह शोध संस्थान के डॉ. वाईल्ड तथा उनके अन्य सहयोगी वैज्ञानिक कहते हैं कि दूध दुहना आवश्यक है। यदि नहीं दुहते तो स्तन ग्रंथियों के ऊतकों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। दूध न दुहने से वह शरीर द्वारा पुनः प्रयोग में ले लिया जाता है जिससे कोशिकायें मृत होन लगती हैं और कुछ ही समय बाद स्तन ग्रंथियाँ काम करना बंद कर देती हैं, जो गाय के लिये घातक है।

गाय का दूध सर्वोत्तम क्यों :

गाय का दूध माता के दूध के समान ही होता है। वैज्ञानिक शोधों से ज्ञात हुआ कि गाय के दूध में 87.2 प्रतिशत जल, 3.5 प्रतिशत प्रोटीन, 3.7 प्रतिशत वसा, 4.9 प्रतिशत लेक्टोज, 0.71 प्रतिशत राख, 0.121 प्रतिशत कैल्शियम, 0.095 प्रतिशत फास्फोरस होता है एवं 73 किलो कैलोरी ऊर्जा होती है, जबकि माता के दूध में 87.5 प्रतिशत जल, 1.0 प्रतिशत प्रोटीन, 4.4 प्रतिशत वसा, 7.0 प्रतिशत लेक्टोज, 0.27 प्रतिशत राख, 0.35 प्रतिशत कैल्शियम, 0.013 प्रतिशत फास्फोरस एवं 70 किलो कैलोरी ऊर्जा होती है। अतः गाय का दूध माँ के दूध के समान होता है जबकि अन्य मवेशियों का दूध माँ के दूध से मेल कम खाता है इसलिए गाय का दूध मानव के लिए सर्वोत्तम है।

अनादिकाल से दूध का उपयोग मानव करता रहा है, इसके प्रमाण प्राचीन पुराण, ग्रंथों में भरे पड़े हैं अनेक तीर्थंकरों ने दीक्षा के बाद दूध चावल की खीर से पारणा की, और नारायण श्रीकृष्ण जैसे महापुरुषों ने दूध दही का सेवन किया। परंतु जिन्हें इतिहास का समीचीन ज्ञान नहीं है, वही कहते हैं कि घी के दीपक की बात तो सुनी है पर दूध पीने की नहीं। ऐसा कहने वालों को पहले इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

श्रावकाचार संग्रह में आवश्यकों का स्वरूप

–डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

भगवान् महावीर के शासन में श्रावक, श्राविका जो गृहस्थ हैं उन्हें प्रतिदिन किन कर्त्तव्यों को करते हुये अपना जीवन-यापन करना चाहिए? इस विषय पर प्राचीन काल से ही चिन्तन चला आ रहा है। आरम्भ से ही एक सामान्य श्रावक की न्यूंनतम आचारसंहिता और आवश्यक कर्त्तव्यों को निर्धारित करने हेतु विचार चला आ रहा है। यद्यपि श्रुतपरम्परा से प्राप्त श्रावकों के आवश्यक कर्त्तव्य सभी आचार्यों ने लगभग एक जैसे और एक उद्देश्य को लेकर गिनाये हैं। तथापि प्रत्येक काल में जैनाचार्यो ने युगानुकूल नयी व्याख्यायें, उनके मूल स्वरूप को सुरक्षित रखते हुये उनमें कुछ परिष्कार, तथा जहाँ आवश्यकता पड़ी वहाँ पर सार्थक हस्तक्षेप किये हैं।

आवश्यक की परिभाषा :

नित्य के अवश्य करणीय क्रियानुष्ठान रूप कर्त्तव्यों को 'आवस्सय' या आवश्यक कहते हैं। सामान्यतः 'अवश' का अर्थ (पाइसद्दमहण्णवो. पृ.83) अकाम अनिच्छु, स्वाधीन, स्वतन्त्र, रागद्वेष से रहित तथा इन्द्रियों की आधीनता से रहित होता है, तथा इन गुणों से युक्त अर्थात् जितेन्द्रिय व्यक्ति की अवश्यकरणीय क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। मूलाचार में आचार्य वट्टकेर ने कहा है–

'ण वसो अवसो अवस्स कम्ममावासगं त्ति बोधव्वा'। (7/11) अर्थात् जो रागद्वेषादि के वश में नहीं होता वह अवश है तथा उस (अवश) का आचरण या कर्त्तव्य आवश्यक कहलाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द (नियमसार–141) आवश्यक का लक्षण करते हुये कहते हैं कि–

'जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति णिज्जुत्तो॥

अर्थात् जो अन्य के वश नहीं वह अवश है, उस अवश का कार्य आवश्य है जो कर्मो का विनाश करने योग्य एवं निर्वाण का मार्ग है। भगवती आराधना (वि.टी. 116) के अनुसार–'आवासयन्ति रत्नत्रयमपि इति आवश्यकाः' अर्थात्–जो क्रियायें आत्मा में रत्नत्रय का आवास कराती हैं वे आवश्यक हैं।

ये आवश्यक मुनियों, आर्यिकाओं, श्रावक, श्राविकाओं सभी को करणीय हैं। मुनिराज इन आवश्यकों को पूर्ण रूप से पालते हैं तथा श्रावक यथाशक्ति इनका एक देश पालन करते हैं।

श्रावकों के षडावश्यक–

श्रावकों को प्रतिदिन करणीय छह आवश्यक बतलाये गये हैं। इन आवश्यकों में कालान्तर में परिवर्तन भी आये। षटावश्यकों/ कर्मो का संख्या सहित कई आचार्यो ने उल्लेख किया है। **महापुराण** में आचार्य जिनसेन (वि. 9 शती) ने श्रावक के करने योग्य षट्–आवश्यक क्रियाओं का वर्णन किया है–

इज्यां वार्त्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत्।।
कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम्।
तदा भरतराजर्षिरन्ववोचदनुक्रमात्।।

(1/30, 31/24,25)*

अर्थात्– 'भरतराज ने उपासकाध्ययन नामक अंग से उन व्रती लोगों के लिए इज्या (पूज्या), वार्त्ता, दत्ति (दान), स्वाध्याय, संयम और तप का उपदेश दिया। पूजादि षट्कर्म गृहस्थों का कुलधर्म है, ऐसा विचाार कर

---

* कोष्ठक संख्या-(श्रावकाचार संग्रह भाग संख्या/पृष्ठ संख्या/श्लोक संख्या)

भरतराजर्षि ने पूजादि षट्कर्मों का उपदेश दिया।' यहाँ विधि-विधानपूर्वक जिनेन्द्र देव की आराधना को इज्या तथा कृषि आदि आजीविका के अनुष्ठान को वार्त्ता कहा है-

"वार्त्ता विशुद्धवृत्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः।' (1/31/35)

आचार्य अमृतचन्द्र (वि. 10 शती) ने पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में मुनियों के षड्आवश्यकों को ही यथाशक्ति गृहस्थों के लिए करणीय माना है-

जिनपुङ्गवप्रवचनै मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि।। (1/119/200)

वे षट् आवश्यक हैं-सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग-

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युतसर्गश्चेति कर्तव्यम्।।

यशस्तिलकचम्पू में श्री सोमदेव सूरि (वि. 11 शती) ने षटावश्यकों में 'वार्त्ता' को न रखकर 'गुरु की उपासना' को महत्त्व दिया। शेष आवश्यक आचार्य जिनसेन जैसे ही हैं। चारित्रसार (वि. 10 शती) में पूरे छह आवश्यक आचार्य जिनसेन की ही तरह हैं-

'गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्तिः स्वाध्यायः संयमः तप इत्यार्य षट् कर्माणि भवन्ति।'(1/258)

किन्तु एक नयी बात चारित्रसार (1/259) में देखने को मिली वह यह कि इन षटावश्यकों को पालने वाला गृहस्थ दो प्रकार के होते हैं-जातिक्षत्रिय और तीर्थक्षत्रिय। जातिक्षत्रिय-क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के भेद से चार प्रकार के हैं। तीर्थक्षत्रिय अपनी आजीविका के भेद से अनेक प्रकार के हैं।

अमितगतिश्रावकाचार (वि.11 शती) में ज्ञान के बिना आवश्यक को सम्यक् प्रकार से पाना असंभव बतलाया है-

'न सम्यक्करणं तस्य जायते ज्ञानतो विना।
शास्त्रतो न विना ज्ञानं शास्त्रं तेनाभिधीयते।' (1/334/7)

अमितगति आचार्य ने षट् आवश्यक पालन करने वाले के लक्षण बताते हुये कहा है कि जिसे उत्तम धर्म कथा सुनने में आनन्द आता हो, जो दूसरों की निन्दा को सुनने का त्यागी हो, लोभ–रहित हो, आलस्य–रहित हो, निन्दा कर्म न करता हो, कालक्रम का उल्लंघन करने वाला न हो, उपशान्त चित्त हो और मार्दव गुण का धारक हो, ये षटावश्यक करने वालों के चिह्न जानना चाहिए। (1/336/27-28)

आचार्य अमृतचन्द्र की तरह आचार्य अमितगति ने भी यहाँ जो षट् आवश्यक स्वीकृत किये हैं वे वे ही हैं जो मुनियों के होते हैं–(मूलाचार 1/22 तथा 7/15)

सामायिकं स्तवः प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रिया।
प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः षोढाऽऽवश्यकमीरितम्।। (1/336/29)

अर्थात्–सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, **प्रत्याख्यान** और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक अवश्य करने चाहिए। **पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका** (वि.12 शती) में भी देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप तथा दान ये छह कर्म ही बतलाये हैं। (3/427/7)

सागारधर्मामृत (वि.13 शती उत्तरार्द्ध) में श्रावकों के पूजा, दान, स्वाध्याय, तप एवं संयम ये पांच कर्म माने हैं। (2/4,5/18) यहाँ पं. आशाधर जी ने वार्त्ता तथा **गुरु उपासना** इन दोनों में से किसी एक को भी नहीं लिया। यहाँ संख्या का भी भेद दिखायी पड़ रहा है। **प्रश्नोत्तर श्रावकाचार** (वि.15 शती) में यत्नपूर्वक, मृत्यु की कीमत पर भी षडावश्यक करणीय माने हैं। इन्होंने समता, वन्दना, दान, कायोत्सर्ग संयम, और ध्यान को अलग-अलग श्लोकों में षडावश्यक माना है। (2/430/100-113)

धर्मसंग्रह (वि.16 शती उत्तरार्द्ध) श्रावकाचार में आचार्य जिनसेन के ही समान इज्या, वार्त्ता, तप, दान, स्वाध्याय तथा संयम इन छह कर्मों

को प्रतिदिन करने वाले को गृहस्थ माना है। (2/154/26) **व्रतोद्योतन श्रावकाचार** (वि.16 शती) में यद्यपि सभी आवश्यकों का वर्णन है किन्तु एक स्थान पर श्रावकों के लिए दो ही कार्यो को मुख्य माना है, दान देना और पूजा-पाठ करना–

"श्रावकाणामुभौ मार्गौ दानपूजाप्रवर्तिनौ।" (3/2256/184)

कुन्दकुन्द श्रावकाचार में सबसे हटकर संख्या निर्धारित की और श्रावकों के दस गृहस्थ धर्म बतलाये हैं–

दया दानं दमो देव-पूजा भक्तिर्गुरौ क्षमा।
सत्यं शौचस्तपोऽस्तेयं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।। (4/33/5)

अर्थात् दया, दान, इन्द्रिय-दमन, देव-पूजन, गुरुभक्ति, क्षमा, सत्य, शौच, तप, अचौर्य यह गृहस्थों का धर्म कहा गया है। यद्यपि इन्हें यहाँ आवश्यक शब्द से नहीं कहा गया तथापि कहीं भी षडावश्यकों का पृथक् उल्लेख न होने से हम इन्हीं को दशावश्यक मान लेते हैं।

1. देव-पूजा

देवदर्शन सम्यग्दर्शन का निमित्त है, फिर देव पूजा का क्या कहना? शायद यही कारण है कि कालान्तर में देव पूजा को श्रावकों को प्रतिदिन करने वाले आवश्यकों में रखकर अनिवार्य माना गया। आचार्यो ने देव पूजा के बारे में एक स्वर में समर्थन दिया। देव पूजा की विधियों में यद्यपि कुछ अन्तर दिखायी देते हैं किन्तु वे सभी श्रावक को धर्म से जोड़े रखने हेतु आवश्यक जान पड़े इसलिए उनका समावेश किया गया।

देव पूजा गृहस्थों का आवश्यक कर्त्तव्य है। आचार्य **समन्तभद्र** कहते हैं–गृहस्थ को आदरपूर्वक, नित्य सर्वकामनाओं के पूर्ण करने वाले और काम विकार को जलाने वाले देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् की पूजा–अर्चना जरूर करनी चाहिए। (1/14/119)

महापुराण में आचार्य **जिनसेन** ने, अर्हन्त देव की पूजा के लिए पाँच प्रकार बतलाये हैं वे पाँच प्रकार हैं–

1. नित्य-मह (सदार्पण)– प्रतिदिन अपने घर से जिनालय मे ले जाये गये गंध पुष्प अक्षत आदि के द्वारा जिन भगवान् की पूजन करना नित्य-मह कहलाता है। भक्ति से जिन-विम्व और जिनालय आदि का निर्माण कराना, तथा उनके संरक्षण के लिये ग्राम आदि का राज्य शासन के अनुसार, पंजीकरण करके दान देना भी नित्यमह कहलाता है। अपनी शक्ति के अनुसार, मुनीश्वरों की नित्य आहार आदि दान के साथ जो पूजा की जाती है वह भी नित्यमह कहलाती है। (1/31/27, 28, 29)

2. चतुर्मुख–मह (महामहा, सर्वतोभद्र)– महामुकुट-वद्ध राजाओं के द्वारा की जाने वाली महापूजा को चतुर्मुख-मह आदि नामों से जाना जाता है।(1/31/30)

3. कल्पद्रुम– मह (कल्पवृक्ष-यज्ञ)– चक्रवर्तियों के द्वारा तुम लोग क्या चाहते हो" इस प्रकार याचक जनों से पूछ-पूछकर जगत की आशा को पूर्ण करने वाला किमिच्छक दान दिया जाता है, वह कल्पद्रुम मह या कल्पवृक्ष-यज्ञ कहलाता है। (1/31/31)

4. आष्टान्हिक-मह– आष्टान्हिका पर्व मे सामान्यजनों के द्वारा किया जाने वाला पूजन, आष्टान्हिक-मह कहलाता है। (1 31/32)

5. इन्द्रध्वज-मह– उपर्युक्त चार प्रकार की पूजनों के द्वारा इन्द्रों के द्वारा की जाने वाली महान पूजा को इन्द्रध्वज-मह कहते हैं। आज के युग में प्रतिमा की प्रतिष्ठा के निमित्त प्रतिष्ठाचार्यो के द्वारा जो पंचकल्याणक पूजा की जाती है, उसे भी इन्द्रध्वज- मह कहा जा सकता है। (1/31/32)

इनके अलावा भी जो पूजने की जाती हैं, उन सबका समावेश इन पॉच भेदों में हो जाता है। आचार्य जिनसेन इस विधि से युक्त महान् पूजन को षट् आवश्यकों (कर्त्तव्यों) में इज्या-वृत्ति (देव-पूजन) कहते हैं। (1/31/33, 34)

सोमदेवसूरि ने यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन में चार शिक्षाव्रतों

के अन्तर्गत सामायिक शिक्षाव्रत में देवपूजा का वर्णन किया है। आचार्य कहते हैं कि सामायिक का अर्थ ही है 'जिनेन्द्र देव की भक्ति पूर्वक पूजा।' जिनेन्द्र देव की पूजा करने का जो उपदेश है उसे समय कहते हैं और उसमें उसके इच्छुक जनों के जो जो काम बतलाये गये हैं उसे सामायिक कहते हैं–

आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम्।
नियुक्तं तत्र यत्कर्म ततसामायिकमूचिरे।। (1/171/426)

और साक्षात् जिनेन्द्र देव के अभाव में उनकी प्रतिमा की पूजन करने से भी पुण्य वन्ध होता है–**'आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृति पूजनम्।** (1/171/427)

देव पूजा के दो रूप वताते हुये आचार्य कहते हैं कि एक तो पुष्पादि में जिन भगवान् की स्थापना करके पूजा की जाती है, दूसरे जिन बिम्बों में जिन भगवान की स्थापना करके पूजा की जाती है। अन्य दूसरे मतों की प्रतिमाओं में जिनेन्द्र देव की स्थापना करके पूजा नहीं करनी चाहिए। (1/173/446 के बाद) इस प्रकार अतदाकार और तदाकार पूजन के ये दो प्रकार वतलाये। इनमें जो पुष्पादिक में (अतदाकार) जिनन्द्र देव की स्थापना करके पूजन करते हैं उसकी पूजा विधि बतलाते हुये कहते है कि 'पूजाविधि के ज्ञाताओं को सदा अर्हन्त और सिद्ध को मध्य में, आचार्य को दक्षिण में, उपाध्याय को पश्चिम में, साधु को उत्तर में और पूर्व में सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को क्रम से भोजपत्र पर, लकड़ी के पटिये पर, वस्त्र पर, शिलातल पर, रेत निर्मित भूमि पर, पृथ्वी पर, आकाश में और हृदय में स्थापित करना चाहिए। फिर पूजा करना चाहिए। (1/173/448)

इसके बाद प्रतिमा में स्थापना करके तदाकार पूजन करने की विधि आचार्य ने बतलायी। आचार्य ने देव पूजा के छह प्रकार बतलाये– (1) प्रस्तावना (2) पुराकर्म (3) स्थापना (4) सन्निधापन (5) पूजा (6) पूजा का फल। (1/180/495)

गृहस्थ जीवन में देव-पूजा की अनिवार्यता को बतलाते हुये आचार्य कड़े शब्दों में कहते हैं कि जो गृहस्थ होते हुए भी देव-पूजा किये बिना तथा मुनियों की सेवा किये बिना भोजन करता है वह महापाप को खाता है–

देवपूजामनिर्माय मुनीननुपचर्थ च।
यो भुञ्जीत गृहस्थः सन् स भुञ्जीत परं तमः।। (1/185/532)

इसलिए आचार्य ने गृहस्थों के लिए देव पूजा में पहिले अभिषेक, फिर पूजन, फिर भगवान् के गुणों का स्तवन, फिर पञ्च नमस्कार मन्त्र का जाप, फिर ध्यान और फिर जिनवाणी का स्तवन। इस प्रकार क्रम से छह क्रियायें आवश्यक मानी हैं।

स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः।
षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम्।। (1/229/880)

चारित्रसार में भी पूजा के चतुर्मुख–मह आदि प्रकारों का वर्णन ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार यशस्तिलकचम्पू में है। (भाग–1 पृष्ठ.285) अमितगति कृत श्रावकाचार में जिन पूजा के महात्म्य का, उसके विविध लौकिक तथा पारमार्थिक फलों का विवेचन है। लौकिक फलों में अन्य उपलब्धियों के अलावा जहाँ एक तरफ यह बताया कि जिनेन्द्र देव की पूजन करने वालों को कामसेवन के लिए उत्सुक, मधुर वचन वाली, सघन-स्तन-मण्डलों की धारक और रमणीय शरीर वाली ऐसी रमणियाँ रमाती हैं–

सकामा मन्यथालापा निबिडस्तनर्मण्डलाः।
रमणी रमणीयाङ्गा रमयन्ति जिनार्चिनः।। (1/375/38)

वहीं दूसरी तरफ पारमार्थिक उपलब्धियों में सिद्ध पद की प्राप्ति जिन पूजन से होती है ऐसा भी बतलाया है। (1/375/39)

आचार्य वसुनन्दि कहते हैं कि अर्हन्त जिनेन्द्र, सिद्ध भगवान्

आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की तथा शास्त्र की जो वैभव से नाना प्रकार पूजी की जाती है, उसे पूजा विधान जानना चाहिए। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से छह प्रकार की पूजा होती है। (1/463-64/380-81)

1. **नाम पूजा–** अरहन्त आदि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश मे जो पुष्प-क्षेपण किये जाते हैं, वह नाम पूजा है। (1/464/382)

2. **स्थापना पूजा–** सद्भावना और असद्भावना, यह दो प्रकार के स्थापना पूजा है। आकारवान् वस्तु में अरहन्त की स्थापना करके पूजा करना सद्भावना पूजा है। और अक्षर, वराटक (कौड़ी या कमलगट्टा) में अपनी वुद्धि से यह अमुक देवता है–ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना यह असद्भावस्थापना पूजा है। आचार्य वसुनन्दि ने यहॉ हुंडावसर्पिणी पंचम काल में दूसरी असद्भावस्थापना पूजा का निषेध किया है क्योंकि कुलिंग–मतियों से मोहित इस लोक मे सन्देह हो सकता है। (1/464/383-385)

3. **द्रव्यपूजा–** जलादि द्रव्य से प्रतिमादि द्रव्य की जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्य पूजा जानना चाहिए। वह द्रव्य से अर्थात् जल-गंध आदि पदार्थ समूह (पूजन सामग्री) से करनी चाहिए। यह द्रव्य पूजा सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार की है। इसमें प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र देव तथा गुरु आदि की यथायोग्य पूजन करना सचित्त पूजा है। और उनके शरीर की तथा शास्त्र की पूजा अचित्त पूजा है। और दोनों को मिलाकर पूजन करना मिश्र है। (1/470/448-450)

4. **क्षेत्रपूजा–** जिन भगवान् की जनमकल्याणक भूमि, निष्क्रमणकल्याणक भूमि, केवलज्ञानोत्पत्तिस्थान, तीर्थचिह्नस्थान और निषीधिका अर्थात् निर्वाणभूमियों में विधिविधान से उनकी पूजा करना क्षेत्र पूजा कहलाती है। (1/471/452)

5. **कालपूजा–** जिस दिन तीर्थङ्करों के गर्भावतार, जन्माभिषेक,

निष्क्रमण, ज्ञान, और निर्वाण कल्याणक हुये उस दिन विधिविधान से पूजा करना काल पूजा है। (1/471/453)

6. भावपूजा– परमभक्ति के साथ जिनेन्द्र देव के अनन्त चतुष्टय आदि गुणों का कीर्त्तन करके जो त्रिकाल वंदना की जाती है उसे निश्चय से भाव पूजा कहते हैं। (1/471/456)

इस प्रकार आचार्य वसुनन्दि ने पूजा के छह प्रकार बतलाकर उसका विस्तृत वर्णन किया है।

सागारधर्मामृत में नित्यमह आदि उन्हीं पूजनों का विधान है जिनका विधान आचार्य जिनसेन ने किया है (2/10/26, 27, 28)। पूजा के लिए अष्ट-द्रव्य तथा शुद्ध स्नानादि का उपदेश देकर जिनभक्ति का महाफल बतलाकर उसमें संलग्न रहने का उपदेश दिया है। **धर्मसंग्रह श्रावकाचार** में पूजन के नाम, स्थापनादि छह प्रकारों का वर्णन उसी प्रकार का है जिस प्रकार आचार्य वसुनन्दि ने किया है (2/159/85)। **उमास्वामि श्रावकाचार** में किन दिशाओं से पूजन करनी चाहिए इसका उल्लेख है। वे कहते हैं कि पूजन करने से पहले पूर्व दिशा की तरफ मुख करके स्नान करना चाहिए, पश्चिम दिशा की तरफ दातुन, उत्तर दिश की तरफ होकर श्वेतवस्त्र धारण करना चाहिए और जिनेन्द्र देव की पूजा उत्तर या पूर्व की तरफ मुख करके करना चाहिए। (3/160/97)

चूंकि सभी मनुष्यों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव समान नहीं होते अतः उमास्वामि श्रावकाचार में पूजा के इक्कीस प्रकार बताये और कहा है कि जिसे जो पूजा प्रिय हो, वह उससे भावपूर्वक पूजन करे। पूजा के इक्कीस प्रकार निम्नवत् हैं– (1) स्नानपूजा (2) विलेपनपूजा (3) आभूषणपूजा (4) पुष्पपूजा (5) सुगन्धपूजा (6) धूमपूजा (7) प्रदीपपूजा (8) फलपूजा (9) तन्दुलपूजा (10) पत्रपूजा (11) पुंगीफलपूजा (12) नैवेद्यपूजा (13) जलपूजा (14) वसनपूजा (15) चमरपूजा (16) छत्रपूजा (17) वादित्रपूजा (18) गीत पूजा (19) नृत्यपूजा (20) स्वस्तिक पूजा (21) कोशपूजा (भण्डार में द्रव्य देना) (3/164/136, 137)

इस प्रकार **उमास्वामि श्रावकाचार** में पूजा विधि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है तथा सचित्त वस्तुओं से पूजन करने व पञ्चामृत-अभिषेक का प्रबल समर्थन किया गया है। (देखें–भाग–3, पृष्ठ–160 से 167 तक) उमास्वामि ने (1) आवाहन (2) संस्थापन (3) सन्निधिकरण (4) पूजन (5) विसर्जन इन पंचोपचारी पूजा का विधान किया है (3/165/47, 48)। वामदेव ने संस्कृत भावसंग्रह में पूजा को शिक्षाव्रत के अन्तर्गत सामायिक में ठीक उसी प्रकार ग्रहण किया है जिस प्रकार यशस्तिलकचम्पू में किया गया है (3/466/23)। वामदेव ने पूज्य और पूजक का लक्षण करते हुये कहा है कि शतइन्द्रों से जिनके चरणपूजे जाते हैं ऐसे निर्दोष केवली जिनेन्द्र देव पूज्य हैं। भव्यात्मा शान्त भावों का धारक है, सप्त व्यसनों का त्यागी है, ऐसा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा उत्तम शीलवान् शूद्र पूजक है–

कः पूज्यः पूजकस्तत्र पूजा च कीदृशी मता।
पूज्यः शतेन्द्रवन्द्यांह्रिर्निर्दोषः केवली जिनः।।
भव्यात्मा पूजकः शान्तो वेश्यादिव्यसनोज्झितः।
ब्राह्मणः क्षेत्रियो वैश्यः स शूद्रो वा सुशीलवान्।।

(श्लोक–24, 25 पृ.–466)

संस्कृत भाव संग्रह में पूजन के वे ही नित्यमहादि भेद हैं जो आचार्य जिनसेन ने किये हैं। कुन्दकुन्द श्रावकाचार में जिनेन्द्र का उपदेश देकर प्रतिमा के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात कही जो कि विचारणीय है वह यह कि **जो प्रतिमा विगत सौ वर्ष से पूजित चली आ रही हो और जिसे उत्तम पुरुषों ने स्थापित किया हो, तो वह व्यंगित होने पर भी पूज्य है। वह मूर्ति निष्फल नहीं है–**

अतीताब्दशतं यत्स्याद्यच्च स्थापितमुत्तमैः।
व्यङ्गमपि पूज्यं स्याद्बिम्बं तन्निष्फलं न यत्।। (4/14/133)

जिन पूजा करने की विधि, उसका उपदेश, उसका माहात्म्य सभी श्रावकाचारों में कुछ अलग कुछ समान रूप से प्राप्त होता है। जहाँ जिन

पूजन के फल, माहात्म्य तथा उनकी विधियों के लम्बे चौड़े वर्णन हैं उनको हमने विस्तार भय से यहाँ नहीं लिया है। जिन पूजा के फल में मेढक के भव की कथा अधिकांश आचार्य कहते हैं। पद्मकृत श्रावकाचार में भी उसका सुन्दर वर्णन है। उसमें जिनपूजा माहात्म्य का वर्णन एक झलक के रूप में प्रस्तुत है–

जिनपूजा करो जिनपूजा करो, भविजन भावे करी।
जिनपूजा कल्पतरु सभी, चिन्तामणि कामधेनु पूजा निर्भर।
मन वांछित फलदाय इन्द्र जिनेन्द्र पद देई जे मनोहर।।

(4/78/वस्तुछन्द)

किशनसिंह कृत क्रियाकोष में मन्त्र जाप और पूजा का त्रिकाल विधान किया गया है। किस दिशा में मुख कर पूजन की तैयारी तथा पूजन करना चाहिए इसका विधान किशनसिंह ने ठीक वैसे ही किया है जिस प्रकार उमास्वामि श्रावकाचार में किया गया हैं इसके अलावा किशनसिंह जी ने मुख पर कपड़ा लगा कर पूजन करने को कहा है–

जो भविजन जिन पूजा रचै, प्रतिमा परसि पखालहिं सचै।
मौन सहित मुख कपड़ों करै, विनय विवेक हर्ष चित धरै।।

(5/205/48)

वर्तमान में मुख पर कपड़ा लगा कर पूजन करने की परम्परा मूर्तिपूजक श्वेताम्बर भाईयों में प्रसिद्ध है। दिगम्बर परम्परा में मुख की बजाय सिर को कपड़े से ढक कर पूजन अभिषेक करने की परम्परा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में पूजा के कितने प्रकार बतलाये है। इन सभी विधानों में जहाँ कहीं भी अन्तर दिखायी दे रहे हैं वो देश, काल, परिस्थिति या परम्परा विशेष के प्रभाव के कारण हुये प्रतीत होते हैं।

2. गुरु–भक्ति

गुरुभक्ति भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। परम्परा

में 'पानी पीओ छान के और गुरु मानो जान के' जैसी प्रसिद्ध लोकोक्तियों से ही ज्ञात होता है कि सच्चे गुरु का कितना महत्त्व माना गया है। सभी जैनाचार्यो ने गुरुभक्ति को श्रावकों का आवश्यक कर्त्तव्य माना है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ में आचार्य समन्तभद्र ने सत्यार्थ गुरु का लक्षण किया है वे कहते हैं कि जो पंचेन्द्रियों की आशा के वश से रहित हो, खेती-पशु-पालन आदि आरम्भ से रहित हो, ज्ञानाभ्यास, ध्यान समाधि और तपश्चरण में निरत हो, ऐसे तपस्वी निर्ग्रन्थ गुरु प्रशंसनीय होते हैं। (1/2/10)

सागार धर्मामृत में गुरु की उपासना को आवश्यक बतलाया गया है। पण्डित आशाधर जी कहते हैं–

उपास्या गुरवो नित्यमप्रमत्तैः शिवार्थिभिः।
तत्पक्षतार्क्ष्य–पक्षान्तश्चराविघ्नोरगोत्तरा।।
निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुर्रार्मनः।
प्रविश्य राजवच्छश्वद् विनयेनानुरञ्जयेत्।।

(2/13/46, 47)

अर्थात्–'प्रमाद रहित मोक्ष के इच्छुक व्यक्तियों के द्वारा गुरुजन सदा ही पूजे जाना चाहिए, क्योंकि उन गुरुओं के अधीन होकर उसी प्रकार सारे विघ्न दूर हो जाते हैं जैसे गरुड़ पक्षी के पंखों को ओढ़ कर चलने वालों के पास सर्प नहीं फटक सकते। 'धर्मसंग्रह श्रावकाचार में कहा है कि दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पंच प्रकार के आचार से युक्त सूरि (आचार्य) द्वादशांगशास्त्र को जानने वाले उपाध्याय, तथा अपनी आत्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले साधु (मुनि) ये सब पूजने योग्य हैं (2/155/43)। **प्रश्नोत्तर श्रावकाचार** में निर्ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह रहित को ही गुरु मानने को कहा है अन्य को नहीं–

"निग्रन्थश्च गुरुर्नान्य एतत्सम्यक्त्वमुच्यते।" (2/211/2)

निर्ग्रन्थ गुरुओं के सच्चे स्वरूप का वर्णन प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में बहुत विस्तार से है (2/222/132-146)। दो सारगर्भित श्लोक कहे हैं जो उल्लेखनीय है–

'देशका ये तरंति स्वयं संसारे दुःख सागरे।
तारयन्ति समर्थास्ते परेषां भव्यदेहिनाम्।।
गुरुन् संगविनिर्मुक्तान् ये भजन्ति बुधोत्तमाः।
नाकराज्यादिकं प्राप्य मुक्तिनाथा भवन्ति ये।।
(2/223/143-144)

अर्थात्–"जो अनेक दुखों से भरे हुए इस संसार सागर से स्वयं तरते हैं और भव्य जीवों को पार कर देने में समर्थ हैं ऐस परिग्रह रहित गुरुओं की जो बुद्धिमान् सेवा भक्ति करते हैं वे स्वर्गादिक के उत्तम साम्राज्य भोगकर अन्त में मोक्ष सुख के स्वामी होते हैं।' इसके अलावा इस श्रावकाचार में कुगुरु का स्वरूप बतलाकर उनका भी निषेध किया है। तथा कहा है कि सर्प, शत्रु और चोर आदि का समागम करना अच्छा परन्तु मिथ्यात्व मार्ग में लगे हुए इन कुगुरुओं का समागम अच्छा नहीं क्योंकि सर्प, शत्रु आदि के समागम से एक ही भव में दुःख होता है परन्तु इन कुगुरुओं के समागम से अनन्त भवों तक दुःख प्राप्त होता रहता है।

वरं सर्पारिचौराणां संगस्तान्न परैः समम्।
मिथ्यात्वपथसंलग्नैरनन्तभवदुःखदम्।। (2/223/153)

धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचार में भी जो रत्नत्रयधारी हो तथा स्वयं को एवं दूसरों को संसार से पार लगाये उन्हीं गुरु को पूजनीय माना है–

सन्तु ते गुरवोनित्यं ये संसार सरित्पतौ।
रत्नत्रयमहानावा स्वपरेषां च तारकाः।। (2/462/3)

लाटीसंहिता में आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन प्रकार के सच्चे गुरुओं का विस्तार से वर्णन हैं। गुरु के स्वरूप की बहुत सूक्ष्म

व्याख्या वहाँ की गयी है। सर्वप्रथम तो आत्मा का जो शुद्धभाव निर्जरादि का कारण है वही परमपूज्य है और उससे युक्त आत्मा ही परमगुरु है। गुरुपने का कारण केवल दोषों का नाश हो जाना ही है। जो निर्दोष है वही जगत् का साक्षी है और वही मोक्षमार्ग का नेता है अन्य नहीं–

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धोभावश्चिदात्मकः।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरु।।
न्यायाद्गुरुत्वहेतुः स्यात्केवलं दोषसंक्षयः।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेतामार्गस्य नेतरः।।

(3/168/193–194)

उपास्वामि श्रावकाचार में कहा है कि गुरु के बिना भव्यजीवों को भव से पार उतारने वाला और कोई भी नहीं है, और न ही गुरु के बिना अन्य कोई मोक्षमार्ग का प्रणेता ही हो सकता है अतः सज्जनों को गुरु की सेवा करनी चाहिए–

गुरुं विना न कोऽप्यस्ति भव्यानां भवतारकः।
मोक्षमार्गप्रणेता च सेव्योऽतः श्रीगुरुः सताम्।।
गुरुणां गुणयुक्तानां विधेयो विनयो महान्।
मनोवचनकायैश्च कृतकारितसम्मतैः।।

(3/168/193-194)

अर्थात्– 'गुणों से संयुक्त गुरुओं की मन-वचन-काय से और कृत कारित अनुमोदना से महान् विनय करनी चाहिए। **पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकागत** श्रावकाचार में गुरु की उपासना का सुफल तथा नहीं करने पर दुष्फल इन दोनों का ही वर्णन है– .

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्।
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम्।।
ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे।।

(3/428–29/18, 19)

अर्थात्–गुरु के प्रसाद से ही ज्ञान रूप नेत्र प्राप्त होता है, जिसके द्वारा सम्स्त विश्वगत पदार्थ हस्तरेखा के सामान स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसलिए ज्ञानार्थी गृहस्थों को भक्तिपूर्वक गुरुजनों की वैयावृत्त्य और वन्दना आदि करना चाहिए। जो गुरुजनों का सम्मान नहीं करते हैं और न उनकी उपासना ही करते हैं, सूर्य के उदय होने पर भी उनके हृदय में अज्ञानरूप अन्धकार बना ही रहता है।' कुन्दकुन्द श्रावकाचार में गुरु–शिष्य दोनों का स्वरूप बतलाकर गुरुभक्ति किस प्रकार करनी चाहिए इसको बतलाते हुये कहते हैं कि सर्वप्रथम तो देव–पूजनादि के बाद हमें स्वयं चलकर गुरु के पास जाना चहिए, यदि गुरु आयें तो भलीभाँति पर्युपासना करनी चाहिए, अपने आसन से उठना, सामने जाना, मस्तक पर जल धारण कर स्वयं उन्हें आसन देना, उनकी भक्तिपूर्वक नमस्कार करना और जब जायें तो कुछ दूर तक उन्हें भेजने जाना–यही गुरु की उपासना का क्रम है। (4/20/183–187) इस प्रकार श्रावकाचार संग्रह में संग्रहीत विभिन्न श्रावकाचारों में गुरु के महत्त्व तथा उनकी भक्ति का विशेष वर्णन है।

3. स्वाध्याय

'स्वाध्यायः परमं तपः'– कह कर आचार्यो ने स्वाध्याय को तप के भेदों में गिना है। यद्यपि 'तप' भी षडावश्यकों में है तथापि स्वाध्याय का महत्त्व इतना अधिक है कि उसे पृथक् स्थान देकर उसकी अनिवार्यता मानी है। स्वाध्याय स्व-पर का भेद ज्ञान करवाने में सबसे वड़ा निमित्त है। शेष आवश्यकों को सच्ची रीति पूर्वक करने के लिए भी स्वाध्याय बहुत आवश्यक है।

अमितगतिकृत श्रावकाचार में आचार्य ने स्वाध्याय तप का वर्णन करते हुए कहा है कि 'पंचम गति मुक्ति को चाहने वाले पुरुषों को वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मदेशनारूप पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना चाहिए।'

वाचनापृच्छनाऽऽम्नायाऽनुप्रेक्षा धर्मदेशना।
स्वाध्यायः पञ्चधा कृत्याः पञ्चमीं गतिमिच्छता।। (1/391/81)

आशाधरकृत सागारधर्मामृत में आचार्य ने स्वाध्यायशाला की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "शिष्यों की तरह गुरुओं की बुद्धि भी स्वाध्यायशाला के बिना ऊहापोह रहित होती हुई परिचित या अभ्यस्त शास्त्र के विषय में भी या मोक्षमार्ग में अंधे के समान आचरण करती है अर्थात् यथार्थज्ञानविहीन रहती है। अतः जहाँ स्वाध्यायशाला नहीं है, वहाँ शिष्यों के समान उपाध्यायों की भी बुद्धि तत्त्वों के ऊहापोह का मार्ग नहीं रहने से परामर्शशीलता के साधन के अभाव में अभ्यस्त शास्त्र भी अन्धी सी हो जाती है, परिमार्जित नहीं रहती है। इसलिए स्थान-स्थान पर स्वाध्यायशाला भी स्थापित कराना चाहिए।"

विनेयवद्विनेतृणामपि स्वाध्यायशाला।
विना विमर्शशून्या धी–र्दृष्टेऽत्यन्धायतेऽध्वनि।। (2/12/39

आशाधरकृत सागारधर्मामृत में आचार्य ने महाश्रावक को परिभाषि करते हुए कहा है कि "महाश्रावक विधि के अनुसार स्वाध्याय को क और विपत्ति से पीड़ित दीन प्राणियों को विपत्ति से दूर करे क्योंवि विशेषज्ञानी और दयालु व्यक्ति के ही सब गुण इच्छापूर्तिकारक होते हैं

स्वाध्यायं विधिवत्कुर्यादुद्धरेच्च विपद्धतान्।
पक्वज्ञानदयस्यैव गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः।। (2/64/13)

धर्मसंग्रह श्रावकाचार ग्रंथ में आचार्य ने ज्ञान की वृद्धि करने के उपाय बताते हुए कहा है कि "ज्ञान की दिनों-दिन वृद्धि के लिए भव्य पुरुषों को-वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश–ये पाँच प्रकार के स्वाध्याय करना चाहिए। (2/170/210) आगे आचार्य स्वाध्यायतप की परिभाषा और महत्ता बताते हुए कहते हैं कि "जैन शास्त्रों के अनुसार अपने लिए अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं और यही स्वाध्याय अज्ञान का नाश करने वाला है,

स्वाध्यायोऽध्ययनं स्वस्मै जैनसूत्रस्य युक्तितः।
अज्ञानप्रतिकूलत्वात्तपः स्वेष परं तपः।। (2/170/211)

आगे आचार्य स्वाध्याय को मोक्ष का कारण बताते हुए कहते हैं कि "स्वाध्याय के करने से ज्ञान की वृद्धि होती है, ज्ञान की वृद्धि होने से चित्त में उत्कट वैराग्य होता है, वैराग्य के होने से परिग्रह का त्याग होता है उससे ध्यान होता है, ध्यान के होने से आत्मा की उपलब्धि होती है, आत्मा की उपलब्धि होने से ज्ञानावरणादि आठ कर्मो का नाश होता है और कर्मो का नाश ही मोक्ष कहा जाता है। अतः यह स्वाध्याय परंपरा मोक्ष का कारण है इसलिए भव्य पुरुषों को--शक्त्यनुसार स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।"

स्वाध्यायाज्ज्ञानवृद्धिः स्यात्तस्यां वैराग्यमुल्बणम्।
तस्मात्सङ्गपरित्यागस्ततश्चित्तनिरोधनम्।।
तस्मिन्ध्यानं प्रजायेत ततश्चात्मप्रकाशनम्।
तत्र कर्मक्षयाऽवश्यं स एव परमं पदम्।।
(2/170/213)

वे आगे कहते हैं-- पूर्वकाल में जितने सिद्ध हुये हैं, आगामी होंगे तथा वर्तमान में होने योग्य हैं वे सब नियम से इस स्वाध्याय से ही हुए हैं तथा होने वाले हैं। इसलिए संसार का नाश करने वाला यही स्वाध्याय मोक्ष का कारण है। अतः भव्यगृहस्थों को स्वाध्याय परम्परा मोक्ष का कारण जानकर, एकान्त स्थान में बैठकर मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक नित्य तथा नैमित्तिक स्वाध्याय करना चाहिए--

सिद्धाः सेत्स्यन्ति सिद्ध्यन्ति ये ते स्वाध्यायतो ध्रुवम्।
अतः स एव मोक्षस्य कारणं भववारणम्।।
इति सद्गृहिणा कार्यो नित्यो नैमित्तिकोऽपि च।
स्वाध्याय रहसि स्थित्वा स्वयोग्यं शुद्धिपूर्वकम्।।
(2/170/214-215)

कुन्दकुन्द श्रावकाचार में विद्याध्ययन/स्वाध्याय के लिए चतुर्दशी,

अमावस्या, पूर्णमासी और अष्टमी के दिन अध्ययन का निषेध किया है तथा कहा गया है कि सूतक के समय और राहु के द्वारा चन्द्र-सूर्य के ग्रहण होने के काल में भी नहीं पढ़ना चाहिए। इसी प्रकार उल्कापात, वज्रपात, भूकम्प और मेघगर्जन होने पर, मरण को प्राप्त हुए बन्धु जनों के प्रेतकर्म करने पर, अकाल में बिजली चमकने पर, भ्रष्ट और मलिन पुरुष के तथा अपवित्र वस्तु के सान्निध्य में, शमशान में, दिन में रात्रि के समान अन्धकार होने पर और अपनी शारीरिक अशुचि दशा होने पर नहीं पढ़ना चाहिए (4/83-84/121-125)। इसके अलावा कुन्दकुन्द श्रावकाचार में बताया है कि गणित, ज्योतिष, साहित्य, तर्कशास्त्र, संस्कृत, सौरसेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रंश भाषा, व्याकरण का भी पढ़ने का लक्ष्य रखना चाहिए (4/84/129-136)। दौलतराम जी ने क्रियाकोश में स्वाध्याय की महत्ता को बतलाया है। स्वाध्याय के पांच भेदों का भी वर्णन किया है। (4/349/64-77)

एक सुन्दर दोहा कहा है जिसमें स्वाध्याय का मर्म समाहित है-

केवल आतम अर्थ जो करै सूत्र अभ्यास।
अपनी पूजा नहिं चहै, पावै तत्त्व अध्यास।।

4. संयम

संयम एक ऐसा आवश्यक है जिसमें संपूर्ण श्रावकाचार गर्भित हो जाता है। सभी व्रतों को अपने में संजोने वाले संयम को श्रावक का आवश्यक कर्त्तव्य माना गया है। असंयमी का धर्म के क्षेत्र में कोई मूल्य नहीं है। आचार्यो ने संयम की परिभाषा तथा व्याख्या बहुत विस्तार से की है।

यशस्तिलकचम्पू में संयम की परिभाषा करते हुये कहा गया है कि आत्मा का कल्याण चाहने वालों के द्वारा जो कषायों का निग्रह, इन्द्रियों का जय, मन वचन और काय की प्रवृत्तियों का त्याग तथा व्रतों का पालन किया जाता है उसे संयमी पुरुष संयम कहते हैं-

कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम्।
संयमः संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम्।। (1/231/892)

चारित्रसार में पञ्चाणुव्रत का पालन करना ही संयम कहा है– 'संयमः पञ्चाणुव्रतप्रवर्त्तनम्' (1/259)। संयम के ही एक प्रसंग में चारित्रसार में एक शंका समाधान किया गया है जो संभवतः षट्खण्डागम के वर्गणा खण्ड के बन्धन अधिकार से उद्धृत है। शंका है कि संयम और विरति में क्या भेद है? उसका उत्तर देते कहते हैं कि समिति सहित महाव्रत और अणुव्रत संयम कहलाते हैं और समितियों के बिना वे महाव्रत और अणुव्रत विरति कहलाते हैं। (1/257)

धर्मसंग्रह श्रावकचार में कहा है कि मन और इन्द्रियों के वश करने को संयम कहते हैं। इसलिए गृहस्थों को अपने योग्य संयम निरन्तर पालन करना चाहिए। यह संयम भी सकल संयम एवं विकल संयम के भेद से दो प्रकार का होता हैं सकल संयम मुनि धारण कर पाते हैं। एवं विकल संयम गृहस्थ धारण कर पाता है– (2/17/216–217)

मनः करणसंरोधस्त्रसस्थावरपालनम्।
संयमः सद्गृही तं च स्वयोग्यं पालयेत्सदा।।
संयमो द्विविधो हि स्यात्सकलो विकलस्तथा।
आद्यः तपस्विभिः पाल्यः परस्तु गृहिभिस्तथा।।

उपास्वामि श्रावकाचार में संयम के दो भेदों का उल्लेख करते हुये कहा है कि संयम दो प्रकार का जानना चाहिए (1) इन्द्रिय संयम (2) प्राणी संयम। पॉचों इन्द्रियों के विषयों की निवृत्ति करना इन्द्रिय संयम है और छह काय के जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है–

संयमो द्विविधो ज्ञेय आद्यश्चेन्द्रियसंयमः।
इन्द्रियार्थनिवृत्त्युत्थो द्वितीयः प्राणिसंयमः।। (3/169/201)

इस प्रकार प्रत्येक संयम पर विस्तार से विवेचन है। पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में संयम की प्रेरणा देते हुए कहा है कि गृहस्थों को

अपने एक देशव्रत के अनुसार सयम का पालन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि सयम के द्वारा ही उनका देशव्रत फलीभूत होता है–

देशव्रतानुसारेण संयमोऽपि निषेव्यते।
गृहस्थैर्येन तेनैव जायते फलवद् व्रतम्। (3 129/22)

वामदेवविरचित संस्कृत भावसंग्रह में गृहस्थों के एक मदेश संयम का लक्षण किया है–

प्राणिनां रक्षणं त्रेधा तथाक्षप्रसरार्हत·।
एकोद्देशमिति प्राहुः संयमं गृहमेधिनाम्।। (3 177/160)

अर्थात्–' प्राणियो की मन वचन काय से रक्षा करना और इन्द्रियों के विषयों में बढते हुये प्रसार का रोकना इसे गृहस्थों का एकदेशसंयम कहते हैं।'

5. तप

जिस प्रकार साधुओं के लिए तप आवश्यक है उसी प्रकार गृहस्थों के लिए भी वह एकदेश करणीय है। जैनाचार्यो ने तप के विषय में लगभग एक राय रखी है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे आचार्य अमृतचन्द्र ने बारह तपों को यथाशक्ति करने का उपदेश दिया है–वे कहते हैं कि चारित्र में अन्तर्भाव होने से तप भी मोक्ष का कारण आगम में कहा गया है, इसलिए अपने बल–वीर्य को न छिपाकर सावधानचित्त श्रावकों को उस तप का भी सेवन करना चाहिए।

चारित्रान्तर्भावात्तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः।।
(1/119/197)

इसी के साथ आचार्य अमृतचन्द्र ने अन्तरंग और बाह्य तप ये दो भेद करते हुये, इनके निम्न छह-छह भेद गिनाये हैं– (1/119/198-199)

1. अन्तरंग तप – विनय, वैयावृत्त्य, प्रायश्चित, उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान।

2. बहिरंग तप– अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग विविक्तशय्यासन और कायक्लेश।

यशस्तिलकचम्पू में तप का लक्षण करते हुय कहा गया है कि अपनी शक्ति को न छिपा कर जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है उसे तप कहते हैं। किन्तु वह तप जैनागम के अविरुद्ध यानी अनुकूल होने से ही लाभदायक हो सकता है। तप की एक और परिभाषा करते हुए वे कहते हैं–'अन्तरङ्ग और बाह्य मल के संताप से आत्मा को शुद्ध करने के लिए जो शारीरिक और मानसिक कर्म किये जाते हैं उसे तपस्वीजन तप कहते हैं–

अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः स्मृतम्।
तच्च मार्गाविरोधेन गुणाय गदितं जिनैः।।
अन्तर्बहिर्मलप्लोषादात्मनः शुद्धिकारणम्।
शारीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः।।

(1/230/390-891)

चारित्रसार में भी अनशनादि बारह प्रकार के तप स्वीकृत किये गये हैं– 'तपोऽनशनादिद्वादशविधानुष्ठानम्' (1/259)। सागारधर्मामृत में 'तपश्चर्य च शक्तितः' (2/14/48) कहकर शक्ति अनुसार तप करने की प्रेरणा दी गयी है।

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में अन्तरंग और बहिरंग तप ये दो भेद बतलाते हुये उनका लक्षण भी किया गया है–

1. बाह्य तप– जिस तप में शरीरादि को क्लेश होता है उसे बाह्य तप कहते हैं।

2. अन्तरंग तप– जिस तप के करने में इच्छा का निरोध होता है उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं–

यत्र संक्लिश्यते कायस्तत्तपो बहिरुच्यते।
इच्छानिरोधनं यत्र तदाभ्यन्तरमीरितम्।। (2/226/165)

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में तप की बहुत महिमा गायी गयी है। (2/360/43 से 64 श्लोक तक) मोक्ष हेतु तप को अनिवार्य मानते हुये कहा गया है कि 'जो बुद्धिमान पहले मोक्ष जा चुके हैं, अब जा रहे हैं, अथवा आगे जायेंगे वे केवल तपश्चरण से ही गये हैं, तपश्चरण से ही जा रहे हैं और तपश्चरण से ही जायेंगे। तपश्चरण के सिवाय अन्य किसी भी कारण से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता (2/361/53)। इसी प्रकार तपश्चरण नहीं करने वालो को दुष्फल भी गिनाये हैं।

लाटीसंहिता (3/49-50/64, 65), उपस्वामि श्रावकाचार (3/170/220-222), **व्रतोद्योतन श्रावकाचार** (3/236-37/282–292), **कुन्दकुन्द श्रावकाचार** (4/120/25, 26) में भी उपरोक्त बारह तपों का ही वर्णन है। **कुन्दकुन्द श्रावकाचार** में मिथ्या तप का भी फल बताया है। वे कहते हैं कि जो अल्पबुद्धि पुरुष लोकपूजा, अर्थ, लाभ और अपनी प्रसिद्धि के लिए तप तपता है, वह अपने शरीर का शोषण ही करता है, उसे उसके तप का कुछ भी फल नहीं मिलता है–

'पूजालाभप्रसिद्धयर्थं तपस्तप्येत योऽल्पधीः।
शोष एव शरीरस्य न तस्य तपसः फलम्।।' (4/120/28)

पदमकृत श्रावकाचार में भी अन्तरंग और बहिरंग के भेद से बारह तपों का उल्लेख है–**'बाह्य तप षट् भेद तो, अभ्यन्तर षट् भेद भण्यां ए।'** (5/97/1)

यहाँ इन्होंने अनशन तप के अन्तर्गत नन्दीश्वरपूजन, रोहिणी, मुकुट सप्तमी आदि के उपवासों का वर्णन किया है। **दौलतरामकृत क्रियाकोष** में भी बारह तपों का बहुत विस्तार से वर्णन है। (5/341–350/ 1335–1497)

इस प्रकार हम पाते हैं कि जैन परम्परा में श्रावकों के लिए भी तप कितना महत्त्वपूर्ण आवश्यक है। 'तप' का नाम सुनते ही आम जन इसको साधु के लिए ही करणीय मानते हैं किन्तु जैन शास्त्रों में श्रावकों के लिए तप का जितना सुन्दर व्यवस्थित चित्रण प्राप्त होता है उतना अन्यत्र प्राप्त नहीं होता है।

6. दान

भारतीय संस्कृति में 'दान' बहुत प्रसिद्ध है किन्तु यह दान क्यों , किसको व कैसे देना चाहिए यह विचारणीय है। जैनाचार्यो ने दान के भेद किये, दाता तथा पात्र-कुपात्र का लक्षण भी बताया क्योंकि सही दान जितना पुण्य कारक होता है, गलत दान उतना ही पाप कारक भी हो जाता है। महापुराण में आचार्य जिनसेन ने दान के चार भेद करते हुये उसे श्रावकों के लिए आवश्यक माना है। दान के चार भेद हैं (1/31/35)-

1. दयादत्ति 2. पात्रदत्ति 3. समदत्ति 4. अन्वयदत्ति

1. **दयादत्ति–** अनुग्रह करने के योग्य दया के पात्र दीन प्राणिसमुदाय पर मन-वचन-कार्य की निर्मलता के साथ अनुकम्पा पूर्वक उनके भय दूर करने को विद्वान् लोगों ने दयादत्ति कहा है– (1/32/36)

सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्दऽभयप्रदा।
त्रिशुद्धनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः।।

2. **पात्रदत्ति–** महान तपस्वी साधुजनों के प्रतिग्रह (पडिगाहन) आदि नवधा भक्तिपूर्वक आहार, औषध आदि का देना पात्रदत्ति कहा जाता है। (1/32/37)-

महातपोधनायार्चा-प्रतिग्रहपुरः सरम्।
प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते।।

3. **सम-समानदत्ति–** क्रिया, मन्त्र और व्रत आदि से जो अपने

समान हैं, ऐसे अन्य साधर्मी बन्धु के लिए और संसार तारक उत्तम–गृहस्थ के लिए, सुवर्ण आदि देना समदत्ति है तथा मध्यमपात्र को समान सम्मान की भावना से जो श्रद्धापूर्वक दान दिया जाता है, वह भी समानदत्ति हैं (1/32/38-39)

4. अन्वयदत्ति (सकलदत्ति)– अपने वंश को स्थिर रखने के लिए पुत्र को कुलधर्म और धन के साथ जो कुटुम्ब रक्षा का भार पूर्ण रूप से समर्पण किया जाता है उसे सकलदत्ति कहते हैं– (1/32/40)

आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः।
समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम्।। सैषा सकलदत्तिः..

आचार्य अमितगति कहते हैं कि जिसे फल की इच्छा है उसे दान देते समय सदा ही पात्र, कुपात्र और अपात्र को जानकर ही दान देना चाहिए। उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार के होते हैं–

'पात्रकुपात्राण्यवबुध्य फलार्थिना सदादेयम्।' (1/253/1)
'पात्रं तत्वपटिष्ठेरुत्तममध्यमजघन्यभेदेन।' (1/353/2)

उनमें तपस्वी साधु उत्तमपात्र हैं, विरताविरत श्रावक मध्यम पात्र हैं और सम्यग्दर्शन से भूषित व्रत रहित जीव जघन्य पात्र हैं–

तत्रोत्तमं तपस्वी विरताविरतश्च मध्यमं ज्ञेयम्।
सम्यग्दर्शनभूषः प्राणी पात्रं जघन्यं स्यात्।। (1/353/4)

इसके बाद आचार्य अमितगति ने उत्तम पात्रों के स्वरूप का भी वर्णन किया है– (1/353-356/5-35)। अपात्र का स्वरूप बताते हुये कहते हैं कि जो निर्दय अनेक अवैध मार्ग से धन हरण करता हो, कामबाण से पीड़ित होकर स्त्री सेवन करता हो, अनेक दोषों का विधायक परिग्रह रखता हो, जो मद्य को पीता हो, अनियन्त्रित चित्त हो, जो मांस और उदुम्बर फल खाता हो, पाप कर्म विशारद हो, कुटुम्ब और

परिग्रह के दृढ़ पिंजरे में बन्द हो, जो **प्रशमभाव**, शीलव्रत और गुणव्रत से रहित हो, जो कषायरूप भुजंगों से सेवित हो और इन्द्रियों के विषयों का लोलुपी हो, ऐसे पुरुष को अपात्र कहते हैं (1/357/36-38)। इसके बाद एकादश परिच्छेद में अभय दान, आहार दान, औषधि दान, शास्त्र दान, वसतिका दान, और वस्त्र दान इन छह प्रकार के दानों, उनकी विधियों तथा फलों का विस्तार से वर्णन है (1/362-67/1/1-70)। **सागार धर्मामृत** में पं. आशाधर जी कहते हैं कि 'गृहस्थ' के द्वारा पात्र, आगम, विधि, द्रव्य, देश ओर काल का उल्लड्घन नहीं करके अपनी शक्ति के अनुसार दान दिया जाना चाहिये और तप भी किया जाना चाहिए–

पात्रागमविधिद्रव्यदेशकालानतिक्रमात्।
दानं देयं गृहस्थेन तपश्चर्यं च शक्तितः।। (2/14/48)

चारो प्रकार के दान के अलावा पण्डित जी ने कन्यादान को भी महत्त्वपूर्ण माना है और कहा है कि गृहस्थ के द्वारा गर्भाधान आदिक क्रियाओ की तथा अनेक मंत्रों की, व्रतनियमादिकों की रक्षा की आकांक्षा से सहधर्मियों के लिए यथायोग्य कन्यादि को दिया जाना चाहिए–

निस्तारकोत्तमायाथ मध्यमाय सधर्मणे।
क़न्याभूहेमहस्त्यश्वरथरत्नादि निर्वपेत्।। (2/15/56)

दाता का लक्षण बताते हुये कहते हैं–

भक्तिश्रद्धासत्त्वतुष्टिज्ञानलौल्यक्षमागुणः।
नवकोटीविशुद्धस्य दाता दानस्य यः पतिः।। (2/59/47)

अर्थात् 'नव कोटि विशुद्ध दान का जो पति है वह दाता है। भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा ये सात दाता के गुण हैं।' सागार धर्मामृत में अनेक प्रकारों से दान, दाता, देय इन सभी की विस्तार से व्याख्या की है।

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में भी सागारधर्मामृत के समान कन्यादान को

महत्त्वपूर्ण माना है और कहा है कि जिस दाता ने अपनी कुलवती कन्या का दान दिया है समझो कि उसने कन्यादान लेने वाले को धर्म, अर्थ काम के साथ-साथ गृहस्थाश्रम ही दिया है क्योंकि गृहिणी (पत्नी) को ही तो घर कहते हैं–

दात्रा येन सती कन्या दत्ता तेन गृहाश्रमः।
दत्तस्तस्मै त्रिवर्गेण गृहिण्येव गृहं यतः।। (2/170/207)

इसके अलावा चारों प्रकार के दानो का विस्तृत वर्णन है। इसी प्रकार प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में दान, दाता के सात गुण तथा पात्र दान एवं कुपात्र दान के फल का वर्णन विस्तार से किया गया है। अन्य महत्त्वपूर्ण विमर्श के अलावा प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में धन के दान देने का कड़ा निषेध किया है। आज सर्वत्र पैसे के दान को ही दान समझा जाता है। जबकि चारों दानों में पैसे को गिनाया ही नहीं है। शायद इसलिए कहा है कि 'मनुष्यों को पुण्य उपार्जन करने के लिए धन का दान तो कभी देना ही नहीं चाहिए, क्योंकि धन का दान देना महामोह को उत्पन्न करने वाला है और ज्ञान-चारित्र आदि गुणों का घात करने वाला है। जो मनुष्य हिंसा मोह आदि को बढ़ाने वाले धन का दान करता है वह भारी पापों को इकट्ठा करता है–

द्रव्यदानं न दातव्यं सुपुण्याय नरैः क्वचित्।
महामोहकरं ज्ञानवृत्तादिगुणघातकम्।।
द्रव्यदानं प्रदत्ते यो हिंसामोहादिवर्द्धनम्।
पापारम्भस्य मूलं सः श्रयेद्‌दुरितमुल्वणम्।।

(2/375/154-155)

गुणभूषणश्रावकाचार (2/451/39-49), धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचार (2/487-492/147-200), उमास्वामि श्रावकाचार (3/171/224-241) में दाता का स्वरूप, देयवस्तु का वर्णन, चारों दानों का फल, पात्र-अपात्र के चिन्तवन इत्यादि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

श्रावकाचार सारोद्धार में दान देने वाले दाता के उत्तम-मध्यम और जघन्य ये तीन भेद बतलाते हुये कहा है कि जो गृहस्थ अपनी आय के चार भाग करके दो भाग तो कुटुम्ब के भरण-पोषण में, तीसरा भाग भविष्य के लिए संचय, तथा चौथा भाग धर्म के लिए त्यागता है, वह उत्तम (श्रेष्ठ) दाता है। जो अपनी आय का छह भाग करके दो भाग तो कुटुम्ब के लिए, तीन भाग कोश के लिए, छठा भाग दान देता है वह मध्यम दाता है। जो अपनी आय का दश भाग करके छह भाग परिवार में, तीन भाग सचय में, दशवां भाग धर्म कार्य में लगाता है वह जघन्य दाता है।(3/363/326-327)

पद्मन्दिपञ्चविंशतिका (3/430)में, देशव्रतोद्योतन (3/435-37) में, प्राकृत भावसंग्रह (3/453-459) में, संस्कृत भावसंग्रह (3/475-76) में रयणसार (3/479-80) में दान विषयक लगभग वही वर्णन हैं जो हम पहले कह आये हैं।

कुन्दकुन्दश्रावकाचार में दान के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात न्यायपूर्वक उपार्जन की मिली। वे कहते हैं–'बुद्धिमान मनुष्य को न्याय-परायण होकर धन के उपार्जन में प्रयत्न करना चाहिए। न्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन ही अपाय (विनाश) रहित होता है, क्योंकि वह नवीन अर्थोपार्जन का सुन्दर उपाय है। न्याय से संचित किया धन यदि अल्प परिमाण में भी दान किया जाय, तो भी वह कल्याण के लिए होता है, किन्तु अन्याय से प्राप्त धन यदि विपुल परिमाण से भी दान किया जाय तो भी फल से रहित होता है'–(4/25-26/41-42)

सुधीरर्थार्जने यत्नं कुर्यान्न्यायपरायणः।
न्याय एवानपायो यः सूपायः सम्पदां यतः।।
दत्तः स्वल्पोऽपि भद्राय स्यादर्थो न्यायसञ्चितः।
अन्यायाप्तः पुनर्दत्तः पुष्कलोऽपि फलोज्झितः।।

पद्मकृतश्रावकाचार (5/66-70) में लगभग अस्सी पद्यों में दान का वर्णन है। किशनसिंह क्रियाकोष (5/143-150) में 39 पद्यों में दान का विस्तार से वर्णन है। दौलतराम क्रियाकोष में दान इतना अनिवार्य कहा है कि यदि कोई यह कहे कि मैं निर्धन हूँ दान नहीं कर सकता तो भी उसे थोड़ा बहुत दान प्रतिदिन करना चाहिए– (5/380/58,60,61)

कोउ कुबुद्धी कूर, चितवै चित में इह भया।
लहिहौं धनअतिपूर, तब करिहूँ दानहि विधी।।
यो न विचारै मूढ, शक्ति प्रमाणों त्याग है।
होय धर्म आरुढ़, करे दान जिनवैन सुनि।।
कुछ हु नाहिं जुरै जु, तौहू रोटी एक ही।
ज्ञानी दान करै जु, दान बिना घृग जनम है।।

इस प्रकार जैनाचार्यो ने श्रावकों के लिए आवश्यक में 'दान' को इसलिए रखा क्योंकि धर्म, तीर्थ रक्षा श्रावकों पर ही आश्रित है तथा इससे महान् पुण्य का बंध होता है।

निष्कर्ष

श्रावकाचार संग्रह में श्रावकों के षडावश्यकों पर यत्किञ्चित् अध्ययन के उपरान्त कुछ निष्कर्ष सामने आये हैं। ये निष्कर्ष स्थूल हैं अधिक गहरायी से अध्ययन किया जाय तो और अधिक बिन्दु भी प्राप्त हो सकते हैं किन्तु सरसरी निगाह से श्रावकाचार संग्रह के पांचों भागों का अध्ययन करने पर हम निम्न निष्कर्षो पर पहुँच रहे हैं–

1. श्रावकों के षडावश्यकों की विधिवत् चर्चा आचार्य जिनसेन करते हैं। जहाँ सम्भवतः उन्हें सर्व-प्रथम लगा कि जिस प्रकार मुनियों के षडावश्यक होते हैं उसी प्रकार श्रावकों के भी होने चाहिए। उन्होंने पूजा करना, कृषि आदि आजीविका हेतु करना, दान, स्वाध्याय, संयम और तप-ये छह आवश्यक बताए।

2. बाद में आचार्य अमृतचन्द्र (वि.10वीं) ने ये षड्ावश्यक न मानकर मुनियों के षडावश्यकों को ही श्रावकों के लिए शक्ति अनुसार करणीय माना। उन्हें ये नये षडावश्यक स्वीकृत नहीं।

3. विक्रम की 10 शती में चामुण्डराय ने जिनसेन का अनुकरण किया और षडावश्यकों के धारक गृहस्थ को जातिक्षत्रिय और तीर्थक्षत्रिय ये दो भेद करके बताया।

4. वि. की 11 वीं शती में सोमदवेसूरि ने षडावश्यक का स्वरूप जिनसेन की तर्ज पर ही निर्धारित किया, किन्तु 'वार्ता' नामक आवश्यक को उन्होंने नहीं लिया, बल्कि उसके स्थान पर 'गुरु उपासना' को महत्त्वपूर्ण शायद इसलिए नहीं माना क्योंकि अजीविका हेतु कार्य जीव करता ही है, उसे यदि इसका उपदेश न दिया जाय तब भी करेगा। सोमदेव सूरि ने जो आवश्यक निर्धारित कर दिये उसका अनुकरण आज तक प्रसिद्ध है।

5. आचार्य अमितगति (वि.11 शती) ने बिना ज्ञान के षडावश्यकों को व्यर्थ माना और पहली बार षड्ावश्यक पालने वाले श्रावक का लक्षण निर्धारित किया। किन्तु ये अमृतचन्द्राचार्य की परम्परा से ही सहमत दिखे तथा जिनसेन और सोमदेव के गृहस्थों के षडावश्यक सम्बन्धी भेदों को नहीं माना। 'मुनियों के षडावश्यक ही गृहस्थों के लिए यथाशक्ति करणीय हैं'–आचार्य अमितगति ने इसे ही माना।

6. पण्डित आशाधर (वि.11 शती) ने जिनसेन, सोमदेव की परम्परा को पुनः स्थापित किया, किन्तु पांच ही कर्त्तव्य माने और वार्त्ता तथा गुरुउपासना इन दोनों को ही नहीं लिया।

7. आचार्य सकलकीर्ति (वि.15 शती) और पदमकृतश्रावकाचार ने पुनः मुनियों वाले षडावश्यक ही स्वीकृत किये।

8. अभ्रदेव (वि.16 शती) ने पूजापाठ और दान इन दो को ही ज्यादा समझा है।

9. कुन्दकुन्दश्रावकाचार में व्रत, दस धर्म, षडावश्यक इनमें से छांटकर दस आवश्यक स्वीकार कर लिये गये हैं।

विचार बिन्दु

इस प्रकार हम पाते हैं कि वर्तमान में हम जिन्हें श्रावकों का षडावश्यक स्वीकार कर रहे हैं उसके निर्मित होने में विचारों का एक इतिहास है। उसमें प्रत्येक युग अपने चिन्तन का सार्थक हस्तक्षेप करता रहा है। वर्तमान आधुनिक युग के उत्तरार्द्ध में एवं उत्तर आधुनिक युग की भूमिका में ये परम्परा प्राप्त षडावश्यक हमारे जीवन से कपूर की तरह उड़ते जा रहे हैं। यदि शेष हैं तो सिर्फ उनकी बातें और बनावटी या रुढ़िग्रस्त आचरण। यह इसलिए भी है कि अभी तक वैधानिक रूप से हमने इसमें युगानुकूल सार्थक आवश्यक परिष्कार नहीं किया है। इन्हीं आवश्यकों में यदि हम विधिवत् कुछ जोड़ने और घटाने का सामर्थ्य नहीं रखते हैं तो नगरीकरण, महानगरीकरण और भूमण्डलीकरण के इस उत्तर आधुनिक युग की ओर बढ़ते युग में श्रावक स्वयं ही परिस्थिति जन्य नया श्रावकाचार बना ले रहा है।

उदाहरण स्वरूप हम विचार करें कि 'तप' नामक आवश्यक में 'बाह्यतप' क्या नया श्रावक प्रतिदिन पाल सकता है? हमें श्रावक के दैनिक कर्त्तव्यों में उन न्यूनतम मापदण्डों पर विचार करना चाहिए जो नामधारी जन्मना जैन, सामान्य श्रावक भी पाल सकें। मेरी दृष्टि में पुराने तथा नये सभी षडावश्यकों को ध्यान में रखते हुये निम्न षडावश्यक आज के युग में आवश्यक हैं–

(1) सामायिक (2) पूजा (3) स्वाध्याय (4) संयम (5) दान
(6) शाकाहार

यहाँ **सामायिक** के अन्तर्गत श्रावकों के लिए स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग को गर्भित कर सकते हैं। पूजा

में देव-गुरु-शास्त्र इन तीनों की उपासना समाहित की जा सकती है। स्वाध्याय, संयम और दान का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है ही। शाकाहार को आवश्यक में स्वतन्त्र रूप से रखना इसलिए जरूरी समझा है कि वर्तमानयुग और भविष्य के सभी युगों में श्रावकों को सबसे बड़ी मुसीबत बनने वाला है–प्रत्यक्ष और परोक्ष मांसाहार। अतः श्रावक शाकाहारी बना रहे यह बहुत आवश्यक है।

अध्यक्ष–जैन दर्शन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री रा. सं. विद्यापीठ
नई दिल्ली–16

श्री सोमदेवसूरि द्वारा प्रतिपादित अहिंसा

–डॉ. जय कुमार जैन

विश्व के सभी धर्मों में अहिंसा की महत्ता को स्वीकार तथा हिंसा का विरोध है। किन्तु जैन धर्म में अहिंसा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। अहिंसा वाह्य और अन्तरंग दोनों से सम्बन्ध रखती है। बाह्य में मन वचन, काय से किसी भी जीव को किसी भी प्रकार की पीड़ा न पहुँचाना अहिसा है तो अंतरंग में राग-द्वेष रूप परिणामों से निवृत्त होकर समता में स्थित होना अहिंसा है। आचार्य उमास्वामी ने 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'[1] कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि जो स्वपर के प्राणों का विनाश प्रमत्तयोग अर्थात् राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति के कारण होता है, वह हिंसा है। आगम में वर्णित द्रव्य और भाव प्राणों में से प्रमत्त योग होने पर द्रव्य प्राणों का विनाश हो या न हो, भाव प्राणों का विनाश तो होता ही है। यह अलग बात है कि प्रमत्तयोग न होने पर भी साधु के ईर्यासमिति पूर्वक गमन आदि में भी द्रव्य प्राणों का विनाश होने पर भी तो हिंसा नियम से होगी ही। इसी कारण श्री अमृतचन्द्राचार्य ने रागद्वेष की अनुत्पत्ति को अहिंसा और उनकी ही उत्पत्ति को हिंसा कहा है–

'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।'[2]

'अहिंसालक्षणो धर्मः'[3] कथन में सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का भी समावेश अहिंसा में किया गया है। यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति रखने पर भी सर्वत्र जीवों का सद्भाव होने से हिंसा तो होती ही है किन्तु प्रमाद न होने से साधक अहिंसक ही कहलाता है।

श्रीसोमदेवसूरिकृत यशस्तिलकचम्पू का उद्देश्य ही अहिंसा की प्रतिष्ठापना रहा है। इसके आठ आश्वासों में से अन्तिम तीन आश्वासों में श्रावक धर्म का विवेचन है। इसका नामकरण ग्रन्थकार ने

'उपासकाध्ययन' किया है। उपासकाध्ययन का मध्यम आश्वास प्रमुखतया अहिंसा के विवेचनपरक है। यशस्तिलकचम्पू के कथानक से फलित निकलता है कि जब राजा यशोधर एवं उनकी माता चन्द्रमती को आटे के मुर्गा की बलि देने के कारण छह जन्मों तक पशुयोनि में भ्रमण करना पड़ा तो साक्षात् हिंसा करने वालो की क्या स्थिति होगी? यह चिन्तनीय है।

उपासकाध्ययन में प्रतिपादित अहिंसा की उपयोगिता– मानव की पदलोलुपता एवं परिग्रहलिप्सा के कारण आज हिंसा का सर्वत्र बोलबाला है। शान्ति के लिए आविष्कृत वैज्ञानिक संसाधनों का प्रयोग आज क्रूरतम हिंसा के साधन के रूप में होने लगा है। शान्ति के नाम पर नरसंहार के जैसी जघन्यतम प्रवृत्तियाँ पनप रही हैं। वैचारिक प्रदूषण के कारण मानव स्वयं अपपने अस्तित्व के लिए खतरा बन गया है। लोग स्वार्थसिद्धि के लिए हिंसा के पक्ष में अनेक थोथे तर्क प्रस्तुत करने लगे हैं। श्रीसोमदेवसूरि ने उपासकाध्ययन में ऐसे कुतर्कों का युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत किया है। उनके प्रतिपादन में अहिंसा का एक सकारात्मक एवं व्यवहार्य जीवनदर्शन है, अतः उसकी उपयोगिता आज के परिप्रेक्ष्य में अधिक प्रासंगिक है। उद्योगी, विरोधी, आरंभी और संकल्पी चतुर्विध हिंसा में से यदि मात्र संकल्पी हिंसा का भी हम त्याग कर दें तो जगत् में हा-हाकार की स्थिति समाप्त हो सकती है। श्री समन्तभद्राचार्य ने मन, वचन, काय के संकल्प से और कृत, कारित, अनुमोदना से त्रस जीवों के घात न करने वाले को स्थूल हिसा से विरत अर्थात् अहिंसाणुव्रती कहा है–

'संकल्पात् कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।
न हिनस्ति यत्तादाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणः।।'[4]

हिंसा और अहिंसा का स्वरूप– श्री सोमदेवसूरि ने अहिंसा धर्म का विवचेन करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार का अनुसरण किया है। वे लिखते हैं–

'यस्मात्प्रमादयोगेने प्राणिषु प्राणहापनम्।
सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता।।

विकथाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च।
अभ्यासाभिरतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्त्तितः।।"[5]

अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणियों के प्राणों का घात करना हिंसा और उनकी रक्षा करना अहिंसा है। जो जीव चार विकथा, पाँच इन्द्रियों, चार कषाय, निद्रा और मोह के वशीभूत है, वह प्रमत्त कहलाता है।

मांसनिषेध, जीवन निर्वाह के लिए मांस अनिवार्य नहीं– उपासकाध्ययन में कहा गया है कि मांस स्वभाव से ही अपवित्र है, दुर्गन्ध से भरा है, दूसरों से प्राण लेने पर ही तैयार होता है, दुःस्थान से प्राप्त होता है तथा विपाक में दुर्गति को देने वाला है। ऐसे मांस को सज्जन कैसे खा सकते हैं? जिस पशु को मांस के लिए हम मारते हैं? वह जन्मात्तर में हमें न मारे या मांस के बिना जीवन ही न चलता हो तो प्राणी अकरणीय पशुहत्या भले ही कर ले, किन्तु ऐसी बात नहीं है।[6] अर्थात् जिस पशु की हम हत्या करते हैं, जन्मान्तर में वह हमारी वह हत्या करता है तथा मांस के बिना भी मनुष्यों का जीवन चलता ही है।

हिंसक भी सुखी देखा जा सकता है, किन्तु परिणाम दुःखद ही– कुछ लोगों का कहना हो सकता है कि हम कुछ ऐसे लोगों को सुख भोगते हुए देखते हैं, जो दूसरों का घात करते हैं। इसका समाधान करते हुए श्री सोमदेव सूरि का कहना है कि जो प्राणी दूसरों के घात के द्वारा सुख भोगने में तत्पर रहता है, वह वर्तमान में सुख भोगता दिखाई देने पर भी अन्य जन्म में दुःख भोगता है, किन्तु जो तात्कालिक सुखों में अनासक्त होकर धर्म करता है, वह परलोक में दुःख नहीं उठाता है। इस समय का सुख पूर्व धर्म का फल है। जो धर्म का फल भोगता हुआ भी धर्माचरण करने में आलस्य करता है, वह मूर्ख है, जड है, अज्ञानी है और पशु से भी गया-गुजरा है। जो अपना हित चाहते हैं और अहित से बचते हैं, वे दूसरों के मांस से अपने मांस की वृद्धि कैसे कर सकते हैं? जैसे दूसरों को दिया हुआ धन कालान्तर में ब्याज सहित अधिक मिलता है, वैसे ही मनुष्य दूसरों को जो सुख-दुःख देता है, वह कालान्तर में अधिक होकर मिलता है।[7]

हिंसा क्यों अकरणीय है?–बौद्ध धर्म के सुप्रसिद्ध धर्म ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

**'सब्बे तसंति दण्डस्स सब्बे भायंति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये।।
सब्बे तसंति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये।।'[8]**

दण्ड से सभी डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं। अतः अपने समान जानकर न किसी को मारे और न मारने की प्रेरणा करे। सभी दण्ड से डरते हैं, अपना जीवन सबको प्रिय है। अतः दूसरों को अपने समान जानकर न किसी को मारे और न मारने की प्रेरणा करे।

श्री सामदेवसूरि हिंसा की त्याज्यता तथा 'आत्मवत् परभूतानि' दर्शन का उपदेश देते हुए लिखते हैं–

**'अल्पात्क्लेशात्सुखं सुष्ठु, सुधीश्चेत्स्वस्य वाञ्छति।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्।।
स्वकीयं जीवितं यद्वत् सर्वस्य प्राणिनः प्रियम्।
तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिंसां परित्यजेत्।।'[9]**

अर्थात् जो बुद्धिमान् पुरुष थोड़े से कष्ट से अच्छा सुख प्राप्त करना चाहता है तो जो काम उसे स्वयं बुरे लगें, उन कामों को दूसरों के प्रति भी उसे नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, उसी तरह दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है, इसलिए हिंसा को छोड़ देना चाहिए।

मांसभक्षण के पक्ष में कुतर्क और उनके सयुक्तिक समाधान–

1. कुछ लोगों का कहना है कि मूग-उदड़ आदि में और ऊँट-मेढ़ा आदि मे कोई अन्तर नही है; क्योकि जैसे ऊंट-मेढा आदि मे जीव रहता है, वैसे ही मूंग-उड़द आदि मे भी जीव रहता है। अत· जीव का शरीर होने से मूंग-उडद वगैरह भी मांस ही हैं।

इसका समाधान करते हुए श्री सोमदेवसूरि का कहना है कि ऐसा कहना ठीक नहीं है। मांस जीव का शरीर है यह ठीक है, किन्तु जो जीव का शरीर है वह मांस होता भी है और नहीं भी होता है। जैसे नीम वृक्ष होता है पर वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता है। ब्राह्मण और पक्षी दोनों में जीव है, फिर ही पक्षी को मारने की अपेक्षा ब्राह्मण को मारने में अधिक पाप है। वैसे ही फल भी जीव का शरीर है और मांस भी जीव का शरीर है, किन्तु फल खाने की अपेक्षा मांस खाने वाले को अधिक पाप होता है। जिसका यह कहना है कि फल और मांस दोनों ही जीव का शरीर होने से बराबर हैं, उसके लिए पत्नी और माता दोनो ही स्त्री होने से समान हैं और शराब तथा पानी दोनों पेय होने से समान हैं। अतः वह जिस प्रकार पानी और पत्नी का उपभोग करता है, वैसे ही शराव एवं माता का उपभोग क्यों नहीं करता है? इससे स्पष्ट है कि मूंग-उड़द एवं ऊँट-मेढ़ा को समान नहीं माना जा सकता है तथा मूंग-उड़द के समान ऊँट-मेढ़ा आदि भक्ष्य नहीं है।[10]

2. कुछ लोगों का यह कुतर्क हो सकता है कि गोदुग्ध एवं धृत पशुजन्य हैं तथा गोमांस भी पशुजन्य हैं। अतः दुग्ध, धृत एवं मांस समान है।

इस तर्क का उत्तर देते हुए उपासकाध्ययनकार का कहना है कि एक स्रोत होने पर भी घी, दूध एवं मांस को एक समान नहीं माना जा सकता। गाय का का दूध शुद्ध है पर गोमांस शुद्ध नहीं है। वस्तु का वैचित्र्य ही ऐसा है। साँप की मणि से विष दूर होता है, जबकि साँप का विष मृत्यु का कारण है। मांस और घी-दूध का एक स्रोत होने पर भी मांस त्याज्य और दुग्ध पेय है। कारस्कर नामक विषवृक्ष का पत्ता आयुवर्धक होता है और उसकी जड़ मृत्यु का कारण होती है। इसी प्रकार मांस भी शरीर का हिस्सा है और घृत भी शरीर का हिस्सा है, फिर भी मांस में दोष है घी में नहीं। जैसे ब्राह्मण के जीभ से शराब का स्पर्श होने पर दोष होता है, पैर से स्पर्श होने पर नहीं।[11] अतः स्पष्ट है कि घी-दूध को तथा मांस को समान नहीं माना जा सकता है।

3. कतिपय लोग धर्मबुद्धि से मांस-भक्षण में दोप नहीं मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि देवता, अतिथि, पितर, मन्त्रसिद्धि, औषधि आदि में मांस भक्षण विहित है।

श्री सोमदेवसूरि का कहना है कि धर्मबुद्धि से मांसभक्षण करना दुहरे पाप का कारण है। जो परस्त्रीगामी पुरुप अपनी माता के साथ संभोग करता है, वह दो पाप करता है। एक तो परस्त्री गमन करता है और दूसरे पूज्या माता के साथ संभोग करने का पाप करता है। वैसे ही जो मनुष्य धर्मबुद्धि से लालसा पूर्वक मांसभक्षण करता है वह एक तो मांसभक्षण का पाप करता है और दूसरे धर्म का ढोंग करने का पाप करता है। अतः कभी भी देवता, अतिथि, पितरों के लिए, मन्त्रसिद्धि के लिए, औपधि के लिए अथवा भय से हिंसा नहीं करना चाहिए।[12] मांस भक्षण यदि धर्म है तो अधर्म क्या है?

मांसत्याग का फल– श्री सोमदेवसूरि का कहना है कि मांस त्याग का महान् फल होता है। एक चाण्डाल का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है–

'चण्डोऽवन्तिषु मातङ्गः पिशितस्य निवृत्तितः।
अत्यल्पकाल भाविन्याः प्रपेदे यक्षमुख्यताम्।।'[13]

अर्थात् अवन्ति देश में चण्ड नामक चाण्डाल ने थोड़ी देर के लिए भी मांस का त्याग कर दिया था। जिसके फल से वह मरकर यक्षों का अधिपति बना।

संकल्पभेद से हिंसा में भेद– बाह्य प्राणी-घात के साम्य के आधार पर फल का साम्य होना नहीं है। क्योंकि मनुष्य के परिणाम ही पुण्य-पाप के कारण होते हैं। मन के निमित्त से ही शरीर और वचन की क्रिया भी शुभ और अशुभ होती है। उदाहरणार्थ–अच्छे इरादे से बच्चे को पीटना भी अच्छा है और बुरे इरादे से बच्चे को मिठाई खिलाना भी बुरा है। जगत् में ऐसी कोई भी क्रिया नहीं है, जिसमें हिंसा न होती हो, किन्तु हिंसा और अहिंसा के लिए गौण और मुख्य भावों की

विशेषता है। सकल्प के भेद से धीवर नही मारते हुए भी पापी है और किसान मारते भी पापी नहीं है।[14] अन्यन्त्र एक उदाहरण देते हुए श्री सोमदेवसूरि का कथन है–

'क्षुद्रमत्स्यः किलैकस्तु स्वयंभूरमणोदधौ।
महामत्स्यस्य कर्णस्थः स्मृतिदोषादधोगतः।।'[15]

स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य के कान में रहने वाला एक शुद्र मत्स्य (तदुलमत्स्य) सकल्प दोष (बुरे संकल्प) के कारण नरक गति को प्राप्त हुआ। यद्यपि उसने किसी का घात नहीं किया था, किन्तु वह हमेशा सकल्पी हिसा को ही करता रहता था। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन इस सन्दर्भ मे ध्यातव्य है कि कोई जीव हिंसा को नहीं करके भी हिसा के फल का भागी होता है और दूसरा हिंसा करके भी हिसा के फल का भागी नही होता है। यह सब परिणामों की ही महिमा है।[16]

जीवदया की श्रेष्ठता–आचार्य कार्तिकेय ने 'जीवाणं रक्खणं धम्मो'[17] कहकर धर्म की अन्य परिभाषाओं के साथ जीवदया को भी धर्म कहा है। श्री सोमदेवसूरि जीवदया की श्रेष्ठता का कथन करते हुए लिखते है–

'एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः।
परं फलं तु पूर्वत्र कृषेश्चिन्तामणिरिव।।
आयुष्मान्सुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमान्नरः।
अहिसाव्रतमहात्म्यादेकस्मादेव जायते।।
पञ्चकृत्व. किलैकस्य मत्स्यस्याहिंसनात्पुरा।
अभूत्पञ्चापदोऽतीत्य धनकीर्तिः पतिः श्रियः।।'[18]

अर्थात् अकेली जीवदया एक ओर है और बाकी की सब क्रियायें दूसरी ओर है। अन्य सब क्रियाओं का फल खेती की तरह है, जबकि जीवदया का फल चिन्तामणि की तरह है। अकेले एक अहिसा व्रत की महत्ता से ही मनष्य आयुष्मान्, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान्, मुन्दर और यशस्वी होता है पूर्वजन्म मे पांच बार एक मछली को न मारने से धनकीर्ति पांच बार आपत्तियों मे बचकर लक्ष्मी का स्वामी बना। उन्होंने

दया को ऐसा सूर्य कहा है जिसके रहने पर पाप रूपी अँधकार ठहर नहीं सकता है।

अहिंसा कहाँ नहीं रहती– मानव सृष्टि का सबसे विवेकशील प्राणी है। इस कारण वह सुख की आकांक्षा के साथ-साथ प्रयास भी करता है। यह प्रयास जव बहु आरंभ एवं परिग्रह में पर्यवसित हो जाता है तो हिंसा का जन्म होता है। वहाँ से अहिंसा पलायन कर जाती है। हिंसा का प्रमुख कारण है–परिग्रह। इससे आर्थिक विषमता उत्पन्न होती है और उससे हिंसा जन्म लेती है। श्री सोमदेवसूरि की तो स्पष्ट घोषणा है कि वहाँ अहिसा कैसे रह सकती है, जहाँ बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह रहता है–

'तत्राहिंसा कुतो यत्र वहृवारंभपरिग्रहः।'[19]

अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए करणीय-अकरणीय–

1. मद्य, मांस, मधु का त्याग–मद्य महामोह को करने वाला है, सव बुराईयों का मूल है और सब पापो में अग्रणी है। इसको पीने से मनुष्य को हित-अहित का विवेक नहीं रहता है। मद्य की एक बूँद में इतने जीव रहते हैं कि यदि वे फैल जाये तो समस्त जगत् मे भर जायें। अतः मद्यपान से प्राणी हिंसक बन जाता है। मास की प्राप्ति ही हिंसा-जन्य है। मधु मधुमक्खियो के अण्डा को निचोड़ने से पैदा होता है। यह रजो-वीर्य के मिश्रण के समान है। मधु का छत्ता उद्भान्त शिशु के गर्भ की तरह है। वह अण्डे में उत्पन्न जन्तुओं के समूह रूप है। अतः मधु के भक्षण में हिंसा है।[20] अतः अहिंसा के आराधक को मद्य, मांस एवं मधु का त्याग कर देना चाहिए।

2. पंच उदुम्बर फलों का त्याग–वड, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर इन पाँच फलों में स्थूल जन्तु रहते हैं, जो साफ दिखाई देते है। इन स्थूल जन्तुओं के निवास के अतिरिक्त शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है कि इन पाँच फलों में सूक्ष्म जन्तु भी रहते हैं। अतः हिंसा के कारण होने से ये फल त्याज्य हैं।[21] इसी कारण इन फलो को जन्तुफल भी कहा जाता है।

3. रात्रि भोजन त्याग–अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए और मूल व्रतों की शुद्धि के लिए श्रीसोमदेवसूरि ने रात्रि में भोजन के त्याग को आवश्यक माना है। उनका कहता है कि अहिंसक को इस लोक एवं परलोक में दुःखदायी रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिए।[22]

4. अन्य त्याज्य वस्तुएँ–अचार, पानक, धान्य, फूल, फल और पत्ते जो जीवों की योनि हैं; ऐसी वस्तुएँ जिनमें जीवों का निवास हो; कमलककड़ी; अनन्तकाय लता, सूरण आदि; बिना दले मूंग, उड़द चना आदि, साबुत फलियाँ।[23] ये सब हिंसा के दोष से दूषित हैं।

5. हिंसक प्राणियों का पोषण एवं हिंसा के उपकरणों का दान नहीं देना–अहिंसा के आराधक को मोर, मुर्गा, बाज, बिलाव, साँप, नेवला आदि हिंसक जन्तुओं को नहीं पालना चाहिए। उन्हें विष, कॉटा, शस्त्र, आग, कोड़ा, जाल, रस्सा आदि हिंसा के साधनों का दान भी नहीं करना चाहिए। अन्य भी जो वध, बन्धन एवं संरोध (पशुओं को घेरे रख़ने) के साधन हैं, उनको भी नहीं देना चाहिए। इन्हें करने से निष्प्रयोजन पाप लगता है। ये सब अनर्थदण्ड कहे गये हैं। अहिंसा के पालन में बाधक होने के कारण इन्हें त्याज्य माना गया है। अन्य भी अनेक कार्य जो अहिंसा की साधना में बाधक हैं, उन्हें त्याज्य समझना चाहिए।

अहिंसा-व्रती की भावनायें– अहिंसा व्रती को मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना को सतत जागरूक रखना चाहिए। इस सन्दर्भ में श्री सोमदेवसूरि का कहना है कि अहिंसा के आराधक को सब जीवों से मैत्रीभाव रखना चाहिए। दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव रखना चाहिए और जो निर्गुण, असभ्य एवं उद्‌दण्ड हों उनके प्रति माध्यस्थ भाव रखना चाहिए। किसी भी जीव को दुःख न हो, मन-वचन-कर्म से ऐसे व्यवहार को मैत्री कहते हैं। तप आदि गुणों से विशिष्ट पुरुष को देखकर विनयपूर्ण स्नेह के उमड़ने का नाम प्रमोद है। दयालु पुरुषों द्वारा गरीबों के उद्धार करने की भावना को कारुण्य कहते हैं। उद्‌दण्ड एवं असभ्य पुरुषों के प्रति राग-द्वेष के अभाव का नाम माध्यस्थ है। जो गृहस्थ इन भावनाओं को भाता है, स्वर्ग तो उसके हाथ में है ही, मोक्ष भी उससे दूर नहीं है। उसे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति भी हो जाती है।[28]

प्रायश्चित्त-विधान-- कभी-कभी गृहस्थों के द्वारा न चाहते हुए भी प्रमादवश जीवों की विराधना हो जाती है। तज्जन्य हिंसा के दोष के निवारणार्थ जैन शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। श्री सोमदेवसूरि का कथन है कि मद से अथवा प्रमाद से दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवों का घात हो जाने पर दोष के अनुसार आगम में कथित विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए।[27]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री सोमदेवसूरि ने उपासकाध्ययन में अहिंसा का जो विवेचन किया है, वह एक सद्गृहस्थ के लिए आवश्यक है। उनका यह विवेचन गृहस्थ के लिए सहज ग्राह्य तो है ही, तार्किक शैली अपनाने के कारण वह उनके थोथे तर्कों का भी सयुक्तिक समाधान करता है, जो किसी न किसी रूप में हिंसा की वकालत करते हैं।

सन्दर्भ सूची :

1. तत्त्वार्थसूत्र, 7/13, 2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 44, 3. परमात्मप्रकाश, टीका 2/68, 4. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 53, 5. उपासकाध्ययन, 303-304, 6. वही, 264-265, 7. वही, 268-274, 8. धम्मपद, दण्डवग्ग, 1-2, 9. उपासकाध्ययन, 267, 277, 10. वही, 285-288, 11. वही, 289-291, 12. वही, 294, 305 (द्रष्टव्य--पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 80-81), 13. वही, 297, 14. वही, 325-326, 15. वही, 296,

16. 'अविधायापि हि हिंसां हिंसाफल भाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्।।'

--पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 51

17. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 18. उपासकाध्ययन, 346-348, 19. वही, 316 का पूर्वार्द्ध, 20. वही, 256-280, 21. वही, 281, 22. वही, 310, 23. वही, 312-315, 24. वही, 419-422, 25. वही, 319-323, 26. वही, 334

-- 429, पटेल नगर
मुजफ्फर नगर (उ.प्र.)

'केवलज्ञान' एक विश्लेषण

—पं. पंकज जैन 'ललित'

केवलज्ञान उस अगाध एवं असीम ज्ञान सिंधु का नाम है जो अनन्त एवं सर्वव्यापी है। केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव है। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष एवं त्रिकालदर्शी है। आचार्य उमास्वामी ने लिखा है–

"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" तत्त्वार्थसूत्र 1/9

केवलज्ञान को सबसे अन्त में रखने के विशेष उद्देश्य को प्रकट करते हुए आ. अकलंक देव ने तत्वार्थ राजवार्तिक में लिखा है–

"अन्ते केवलग्रहणम् ततः परं ज्ञानप्रकर्षाभावात्"

—तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/9/19

अन्त में केवलज्ञान को ग्रहण किया है क्योंकि इससे उत्कृष्ट ज्ञान का अभाव है। सर्व ज्ञानों के परिच्छेदन में केवलज्ञान ही समर्थ है। केवलज्ञान सभी ज्ञानों को जानता है परन्तु केवलज्ञान को जानने का सामर्थ्य किसी ज्ञान में नहीं है। इसीलिए केवलज्ञान से उत्कृष्ट कोई ज्ञान नहीं है।

केवलज्ञान का लक्षण :

केवलज्ञान के व्युत्पत्ति अर्थ एवं उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आ. पूज्यपाद ने लिखा है–"बाह्ये सेवन्ते तत्केवलम्"–सर्वा. सि. 1/9/14 अर्थात्–अर्थीजन जिसके लिए बाह्य और अभ्यंतर तप के द्वारा मार्ग का केवन अर्थात् सेवन करते हैं, वह केवलज्ञान कहलाता है। इसी प्रकरण में आ. पूज्यपाद ने केवलज्ञान की व्याख्या करते हुए लिखा है– '"असहायमिति वा' अर्थात्–असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

असहाय शब्द को आ. पूज्यपाद ने एक विशेषण के रूप में प्रयोग

किया है। इस विशेषण को ठीक प्रकार से समझने के लिए आ. गुणधर कृत कषाय पाहुड का यह व्याख्यान दृष्टव्य है–

"केवलमसहायं इन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षत्वात्। ...आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्।"

कषाय पाहुड 1/1, 1 प्रकरण सं.–15

असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनोव्यापार की अपेक्षा से रहित होता है। इसीलिए केवलज्ञान को असहाय ज्ञान कहा जाता है। केवल असहाय को कहते हैं। जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय और आलोक की अपेक्षा रहित है। त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों से समवाय सम्बन्ध को प्राप्त अनन्त वस्तुओं को जानने वाला है। असंकुचित अर्थात् सर्व व्यापक है और असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी रहित है; उसे केवलज्ञान कहते हैं।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला में लिखा है–

"केवलमसहायमिदिया लोयणिखेक्खं तिकालगोयराणंत पज्जाय समवदाणं तवत्थुपरिम संकुडियम सवत्तं केवलणाणं"

केवलज्ञान उत्पत्ति का कारण :

केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिए आत्मा के अनंत ज्ञान गुण को ढकने वाले ज्ञानावरण कर्म को पूर्ण रूप से नष्ट करना आवश्यक है। लेकिन केवलज्ञान प्राप्ति हेतु आत्मा को कुछ अन्य कर्मों एवं कर्म प्रकृतियों का भी क्षय करना आवश्यक है। केवलज्ञान प्राप्ति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए आ. उमास्वामी ने लिखा है कि–

"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्चकेवलम्"–त. सू. 10/5

मोहनीय कर्म का क्षय होने से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से तथा 'च' शब्द से तीन आयु और तेरह नाम कर्म की प्रकृतियों का क्षय होने से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि घातिया कर्मो की सैंतालिस प्रकृतियों के साथ-साथ आयु कर्म की तीन एवं नाम कर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय भी केवलज्ञान प्राप्त होने से पूर्व हो जाता है। इसी तथ्य का समर्थन करते हुए श्री श्रुतसागर सूरि ने तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी अपनी टीका तत्त्वार्थवृत्ति में लिखा–"सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द से तीन आयु और नाम कर्म की तेरह प्रकृतियों के अर्थात् सब मिलाकर त्रेसठ कर्म प्रकृतियों के क्षय होने से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। मोहनीय कर्म की अट्ठाईस, ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नौ, अन्तराय की पांच तथा **च शब्द** से नरक आयु, तिर्यग् आयु एवं देवायु के क्षय होने के साथ ही साधारण, आतप, पंचेन्द्रिय के बिना चार जाति, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, स्थावर, सूक्ष्म और उद्योत नाम कर्म की इन तेरह प्रकृतियों के क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।"

कर्म क्षय एक क्रम पूर्वक होता है :

आचार्य उमास्वामी ने केवलज्ञान प्राप्ति के कारणों का उल्लेख करते हुए तत्वार्थसूत्र के दशमे अध्याय में प्रथम सूत्र में 'मोहक्षयात्' इस शब्द को सूत्र में सबसे आगे प्रथक् रखा है। सूत्र के इस व्यवस्थित शब्द क्रम में भी एक रहस्य छुपा हुआ है। इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं–

> **"क्षयक्रमप्रतिपादनार्थो वाक्यभेदेन निर्देशः क्रियते। प्रागेव मोहं क्षयमुपनीयान्तर्मुहूर्त्तं क्षीणकषायव्यपदेशमवाप्य ततो युगपज्ज्ञान दर्शनावरणान्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति इति।"**
>
> –सर्वार्थसिद्धि 10/1/921

सूत्र में कर्मो के क्षय का क्रम बताने के लिए वाक्यों का भेद करके निर्देश किया है। पहले ही मोह का क्षय करके और अन्तर्मुहूर्त काल तक क्षीणकषाय संज्ञा को प्राप्त होकर अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त होता है।

केवलज्ञान का विषय :

केवलज्ञान एक सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है, इसके सर्वोपरि होने का कारण यह है कि इसका विषय क्षेत्र सभी द्रव्यों की सभी पर्यायें है। इससे भी बड़ी विशेषता यह है कि इस ज्ञान के द्वारा सभी द्रव्यों की त्रिकालवर्ती पर्यायों को एक ही समय में युगपत् (एक साथ) जाना जा सकता है। केवलज्ञान की इन्हीं विशेषताओं के कारण अनेक तार्किक एवं अनेक दर्शनवादी इसे केवल काल्पनिक ज्ञान बताते हैं। वे केवलज्ञान के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाने से भी नहीं चूकते।

मिथ्यावादियों के इसी भ्रम एवं अज्ञानता के कारण अनेक जैनाचार्यों ने केवलज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए ठोस तर्क एवं युक्तियाँ भी दी हैं। उन्होंने कहा है कि आत्मा में अनंत शक्तियां हैं उन्हीं अनंत शक्तियों में से ज्ञान आत्मा की प्रधान शक्ति है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है इसीलिए जैनाचार्यों ने कहा ज्ञान आत्मा का ऐसा गुण है जिसे त्रिकाल में भी आत्मा से पृथक् नहीं किया जा सकता, ज्ञान के अभाव में आत्मा की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

सभी संसारी एवं मुक्त आत्माओं में अनंत ज्ञान शक्ति विद्यमान है। इस सत्य के बावजूद भी संसारी प्राणियों में ज्ञान की समानता नहीं देखी जाती है, सभी संसारी प्राणियों का ज्ञान भिन्न-भिन्न स्तर का देखने में आता है। इस रहस्य को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्यों ने स्पष्ट किया कि सभी आत्माओं में अनंत ज्ञान शक्ति रूप में विद्यमान रहते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति न होने के कारण संसारी प्राणियों के ज्ञान में असमानता देखने में आती है।

इस अनंत ज्ञान की अभिव्यक्ति न हो पाने के पीछे सबसे बड़ा कारण ज्ञानावरण नाम का कर्म है। इस कर्म का आत्मा से अनादिकालीन संबंध है, इसके कारण आत्मा के अनंत ज्ञान पर आवरण पड़ा रहता है। अपनी विशिष्ट पुरुषार्थ शक्ति के द्वारा आत्मा इस कर्म को क्षीण कर सकती है। ज्ञानावरण कर्म जिन अंशों में क्षीण होता जाता

है उन्हीं अंशों में आत्मा की ज्ञान शक्ति भी प्रकट होने लगती है। सभी आत्मायें अपनी ज्ञान शक्ति को प्रकट करने के लिए समान पुरुषार्थ नहीं करतीं, इसीलिए संसारी आत्माओं के ज्ञान में भिन्नता दिखाई देती है।

कर्म बंधन के क्षीण होने को जैनागम में क्षयोपशम कहा जाता है। जब ज्ञानावरण कर्म का पूर्ण क्षय (अभाव) हो जाता है तब आत्मा की अनंत ज्ञान शक्ति अर्थात् केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। एक बार कर्म के पूर्ण क्षय होने पर पुनः कभी इन कर्म बंधनों से आत्मा को सामना नहीं करना पड़ता।

मति एवं श्रुतज्ञान के उपरान्त होने वाले अवधिज्ञान एवं मनःपर्यय ज्ञान में इन्द्रियों एवं मन का एकदेश उपयोग होने से इन्हें एकदेश प्रत्यक्ष माना गया है। आचार्य अकलंक देव ने अष्टशती की तृतीय कारिका में स्पष्ट लिखा है कि–

**"आत्मनमेवापैक्ष्यैतानि त्रीणि ज्ञानानि उत्पद्यन्ते।
न इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षा तत्रास्ति।।"**

अवधिज्ञान, मनःपर्यर्यज्ञान व केवलज्ञान ये तीनों ज्ञान आत्मा की अपेक्षा करके ही उत्पन्न होते हैं। वहां इन्द्रिय व अनिन्द्रिय की अपेक्षा नहीं होती।

सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अंत में प्रकट होने वाला केवलज्ञान ही सकल प्रत्यक्ष है क्योंकि इस ज्ञान में समस्त द्रव्यों की त्रिकालवर्ती (अतीत, अनागत, वर्तमान) पर्यायों का ज्ञान युगपत् (एक साथ) होता है। इस ज्ञान में मन एवं इन्द्रियों की सहायता के बिना ही सकल पदार्थों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यह ज्ञान असीमित है, अनंत है। इस ज्ञान के विषयगत पदार्थों की व्याख्या करते हुए आचार्य उमास्वामी ने लिखा–

"सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" तत्वार्थ सूत्र 1/29

केवल ज्ञान का विषय समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायें हैं। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं– **"द्रव्यपर्यायजातं**

वा न किंचित्केवलज्ञानस्य विषयभावमतिक्रान्तमस्ति। अपरिमित माहात्म्यं हि तदिति ज्ञापनार्थं 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' इत्युच्यते।''

—सवार्थ-सिद्धि 1/29/230

ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय समूह है जो केवलज्ञान के विषय के परे हो। केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है। इसी बात का ज्ञान कराने के लिए सूत्र मे ''सर्वद्रव्यपर्यायेषु'' पद का प्रयोग किया गया है।

केवलज्ञान के द्वारा द्रव्यों की त्रिकालवर्ती (भूत, भविष्य एवं वर्तमान) पर्यायों को एक साथ कैसे जाना जा सकता है? इस प्रश्न का समाधान देते हुए आ. अमृतचंद्रजी प्रवचनसार की टीका में लिखते हैं–

''किंच चित्रपटस्थानीयत्त्वात् संविदः; यथा हि चित्रपट्यामतिवाहिता नामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि''

—प्रवचनसार/तत्वप्रदी. 37

ज्ञान चित्रपट के समान है। जैसे चित्रपट में अतीत अनागत और वर्तमान पदार्थ आलेख्याकार साक्षात् एक समय में भासित होते है। उसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्ति में भी भाषित होते हैं।

केवलज्ञान समस्त ज्ञेयों को युगपत् जानता है—केवलज्ञान में समस्त-रूपी-अरूपी द्रव्यो की समस्त पर्यायों का ज्ञान युगपत् होता है। यदि इन पर्यायों को केवलज्ञान क्रमपूर्वक जानेगा तब एक समय मे समस्त पर्यायो का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः वह उन्हें अवग्रहादि क्रियाओं से न जानकर अक्रम रूप से एक समय में समस्त द्रव्यों की पर्यायों को प्रत्यक्ष जानता है। आचार्य शिवकोटि जी ने लिखा है–

''भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेई।
सत्वं वि तहा जुगवं केवलणाणं पयासेदि''।।

भगवती आराधना 2142

जैसे सूर्य के प्रकाश में जितने पदार्थ समाविष्ट होते हैं वह उन

सबको युगपत् (एक.साथ) प्रकाशित करता है, वैसे सिद्ध परमेष्ठी का केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञेयों को युगपत् जानता है।

केवलज्ञान का विषय क्षेत्र समस्त लोकालोक है :

केवलज्ञान का विषय क्षेत्र सीमाओं में बँधा हुआ नहीं है, यह असीम है। केवलज्ञान का विषय क्षेत्र समस्त लोकालोक है। समस्त लोक-आलोक में ऐसा कोई स्थान शेष नहीं है जो केवलज्ञान से छिपा हुआ हो या केवलज्ञान का विषय न हो। आ. कुन्दकुन्द ने लिखा है–

"आदा णाण पमाणं णाणं णेयप्पमाण मुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं त सुव्वगयं"।। प्रवचनसार–23

आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, ज्ञेय लोकालोक है, इसलिए ज्ञान सर्वगत है। आचार्य नेमिचंद्र ने द्रव्य संग्रह में सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप की व्याख्या करते हुए केवलज्ञान की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – अष्टकर्म रूपी देह जिन्होंने नष्ट कर दी है तथा जो लोकालोक को जानने–देखने वाले हैं–वे सिद्ध हैं। अतः अनेक आगम प्रमाणों से यह सिद्ध है कि केवलज्ञान का विषयगत क्षेत्र समस्त लोकालोक है।

निश्चय नय से केवलज्ञानी अपनी आत्मा को जानते हैं :

केवलज्ञान के द्वारा केवली भगवान् समस्त चराचर जगत को जानते हैं। किन्तु निश्चय नय की दृष्टि से वे अपनी आत्मा को जानते हैं। उक्त कथन का उल्लेख करते हुए आचार्य कुंदकुंद देव ने लिखा है–

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।

–नियमसार, 159

व्यवहार नय के केवली सब कुछ जानते और देखते हैं किन्तु

निश्चय नय से वे केवली भगवान् अपनी आत्मा को जानते देखते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अपनी आत्मा को जानने के कारण शेष जगत् से अनभिज्ञ या अनजान रहते हैं, इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आ. योगेन्दु देव ने लिखा है–

जोइय अप्पे जाणिएण जगु जाणियउ हवेउ।
अप्पहं करेइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेई।।

–परमात्म प्रकाश,99

अपने आत्मा के जानने से यह तीन लोक जाना जाता है, क्योंकि आत्मा के भाव रूप केवलज्ञान में यह लोक प्रतिबिम्बित हुआ बस रहा है।

केवलज्ञानी अपनी आत्मा के साथ समस्त जगत् को भी जानते हैं :

यदि हम ऐसा मानते हैं कि – "केवली भगवान केवलज्ञान के द्वारा केवल अपनी आत्मा के स्वरूप को देखते हैं, लोक–अलोक को नहीं जानते" तब इस मान्यता से केवलज्ञान में कोई विशेषता नहीं रह जाती। परन्तु स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है–

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति।। प्रवचनसार, 39

यदि अनुत्पन्न व नष्ट पर्यायें ज्ञान के प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा?

आशय यह है कि केवलज्ञान की दिव्यता एवं विशिष्टता इसी कारण है कि वह समस्त चराचर जगत् को एक साथ जनता है। इसलिए उक्त निश्चय नय एवं व्यवहार नय इन दोनों नयों की दृष्टि से कथन में भिन्नता हो सकती है पर केवलज्ञान के वैशिष्ट्य पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नियमसार में लिखा है–

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होई।। 167।।

पुव्वत्तूसयलदव्व णाणागुण पज्जएण संजुत्तं।
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स।। 168।।

वास्तव में मूर्तिक–अमूर्तिक, चेतन–अचेतन द्रव्यों को; अपने को तथा अन्य समस्त को देखने वाले का ही ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है। नाना गुण पर्यायों से युक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को जो सम्यक् प्रकार से नहीं देखता उसका दर्शन परोक्ष ही रहेगा।

इसी संशय के निवारणार्थ प्रवचनसार में लिखा है–

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं सपज्जयं दव्वमेगं वा।। 48।।

दव्वं अणंत पज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ।।49।।

जो एक ही साथ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थों को नहीं जानता, उसे पर्याय सहित एक (आत्म) द्रव्य भी जानना शक्य नहीं है। यदि अनन्त पर्याय वाले, एक द्रव्य को तथा अनन्त द्रव्य समूह को एक ही साथ नहीं जानता तो वह सबको कैसे जान सकेगा?

केवलज्ञानी की समस्त क्रियायें इच्छा रहित हैं :

केवलज्ञान के विषय में जानकर सामान्यतः लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है कि यदि केवलज्ञानी समस्त जगत् के प्राणियों के सुख–दुःख को जानते–देखते हैं तब क्या उनके भीतर राग–द्वेष नहीं होता। इसी समाधान में आचार्य शिवकोटि भगवती आराधना में लिखते हैं–

पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहा।।214

अर्थ–केवली सम्पूर्ण द्रव्यो व उनकी पर्यायो से भरे हुए सम्पूर्ण जगत् को तीनो कालों में जानते हैं। तो भी वे मोहरहित ही रहते हैं।

केवलज्ञान के अतिशय :

केवलज्ञान प्राप्त होने पर केवली भगवान् (अर्हत् भगवान) मे ग्यारह अलौकिक विशेषताएं प्रकट हो जाती हैं। जिन्हें अतिशय कहा जाता है। केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर उत्पन्न होने वाले ग्यारह अतिशयो का वर्णन आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति में इस प्रकार किया है–

1. **चारों दिशाओं में एक सौ योजन तक सुभिक्ष**-- केवली भगवान् जहां विराजते हैं, वहा चारों ओर सौ योजन (चार सौ कोस) तक सुख, समृद्धि, निरोगता व्याप्त हो जाती है। वातावरण मंगलमय एवं शांतिमय बन जाता है।

2. **आकाशगमन**– केवली भगवान् कैवल्य प्राप्ति के उपरांत भूमि पर नही चलते। उनका परमौदारिक शरीर आकाश में गमन करता है।

3. **हिंसा का अभाव**– केवली भगवान् जिस ओर भी विहार करते हैं उधर चारो ओर का वातावरण अहिंसामय हो जाता है। गाय एव शेर एक ही घाट पर पानी पीने लगते हैं। उनके समवशरण (धर्म सभा) मे पहुंचकर प्राणी अपना जन्म-जात वैर भूलकर प्रेम व वात्सल्य से एक-दूसरे के निकट बैठते है।

4. **भोजन का अभाव**– कैवल्य प्राप्ति के बाद केवली भगवान को शरीर संरक्षण हेतु किसी भी प्रकार के अन्न या जलाहार आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती अर्थात् वे भोजन ग्रहण नही करते। केवली कवलाहार नही करते।

5. **उपसर्ग का अभाव**– कैवल्य प्राप्ति के बाद अर्हत् भगवान् पर कोई भी मनुष्य, देव, पशु आदि उपसर्ग नही करता। उनके निकट पहुंचकर जीव अपने प्रतिशोध, वैर, वैमनष्यता को भूलकर श्रद्धा पूर्वक उनका भक्त बन जाता है।

6. **चतुर्मुखता**– भगवान् के समवशरण (धर्मसभा) मे जो भी जीवगण पहुंचते हैं उन्हें भगवान् का मुख अपनी ओर दिखाई देता है। अर्थात् भगवान् का मुख चारों दिशाओं में दिखाई देने लगता है। वास्तव

में भगवान का एक ही मुख रहता है पर अतिशय के कारण वे चतुर्मुख दिखते हैं।

7. **छाया नहीं पड़ना**– कैवल्य प्राप्ति के उपरांत अर्हत् भगवान् का शरीर स्फटिक मणि के समान निर्मल, पारदर्शी एवं सप्त धातु से रहित हो जाता है इस कारण उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती।

8. **निर्निमेष दृष्टि**– अर्हत् भगवान् की पलकें नहीं झपकती इसे ही निर्निमेष दृष्टि कहा जाता है।

9. **सर्वविद्येश्वरता**– केवलज्ञान जैसी सर्वश्रेष्ठ विद्या एवं ऋद्धि को प्राप्त अर्हत् भगवान् को सभी विद्याओं का स्वामी कहा जाता है।

10. **नख और केशों का घटना बढ़ना नहीं**– कैवल्य प्राप्ति के उपरांत अर्हत् भगवान् के नख एवं केश न बढ़ते हैं और न घटते हैं।

11. **अनेक भाषा मय दिव्य ध्वनि**– कैवल्य प्राप्ति के उपरांत उनकी दिव्य देशना (उपदेश) श्रोताओं को अठारह महाभाषाओं में एवं सात सौ क्षुद्र भाषाओं में सुनायी देती है अतः उनके समवशरण में पहुँचने वाले सभी मनुष्य, देव, पशु–पक्षी आदि उनके दिव्य उपदेश को अपनी–अपनी भाषा में ग्रहण कर लेते हैं।

केवलज्ञानी अठारह दोषों से रहित होते हैं :

केवलज्ञान प्राप्त होने के उपरांत ही अर्हत् अवस्था की प्राप्ति होती है। अतः अर्हत् परमात्मा या केवलज्ञानी में अठारह दोष नहीं रहते। इनका उल्लेख करते हुए आ. कुन्दकुन्द ने नियमसार में लिखा है–

> **"छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।।**
> **सेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो।।6।।**

अर्थात्– केवलज्ञानी अर्हत् परमात्मा में क्षुधा (भूख), तृषा (प्यास), भय, रोष (क्रोध), राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद (पसीना),

खेद, मद (अहंकार), रति (प्रेम), विस्मय (आश्चर्य), निद्रा, जन्म, उद्वेग (अरति, घृणा) ये अठारह दोष नहीं पाये जाते।

केवलज्ञान के बिना मुक्ति नहीं :

केवलज्ञान को प्राप्त किये बिना जीवात्मा निर्वाण पद प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् संसार से मुक्त नहीं हो सकता। आ. अकलंक देव ने तत्वार्थ राजवार्तिक में लिखा है कि–

"यतश्च केवलेनैव सह निर्वाणं न क्षयोपशमिकज्ञानैः सह, अतो. ऽन्ते केवलग्रहणम्।"

अर्थ– केवलज्ञान के साथ ही निर्वाण होता है न कि क्षायोपशमिक मति आदि ज्ञानों के साथ। अतः ज्ञान के क्रम में केवलज्ञान का अंत में निर्देश किया है।

केवलज्ञान का सद्भाव सिद्धावस्था में भी– मोक्ष प्राप्ति के उपरांत जीवात्मा शुद्ध अवस्था अर्थात् अविनाशी सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है। केवलज्ञान भी आत्मा का अविनाशी गुण है। अतः केवलज्ञान सिद्ध अवस्था में भी आत्मा के साथ विद्यमान रहता है। आ. उमास्वामी जी ने तत्वार्थ सूत्र में लिखा है–

"अन्यत्र केवल-सम्यकत्व-ज्ञान-दर्शन सिद्धत्वेभ्यः।"

–त.सू. 10/4

सिद्धों में केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, और सिद्धत्व भाव का अभाव नहीं होता।

केवलज्ञान के विषय में यही कहा जा सकता है कि यह असीम है, अनंत है, अवर्णनीय है, प्रत्येक मोक्षमार्गी का चरम लक्ष्य है।

–पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर
अपर बाजार, राँची (झारखण्ड)

पचास वर्ष पूर्व–

जैन और बौद्धधर्म एक नहीं

–जगदीशचन्द्र जैन

बहुत दिनों से कुछ मित्रों की इच्छा थी कि ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी ने "जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान" नामक पुस्तक में जो जैन और बौद्धधर्म के ऐक्य के विषय में अपने नये विचार प्रकट किये हैं, उन पर मैं कुछ लिखूं। उक्त पुस्तक को प्रकाशित हुए बहुत-सा समय निकल गया। किन्तु लिखने की इच्छा होते हुए भी कार्य-भार से मैं इस ओर कुछ भी न कर सका। अभी कुछ दिन हुए मुझे बम्बई युनिवर्सिटी के एक एम. ए. के विद्यार्थी को पाली पढ़ाने का अवसर प्राप्त हुआ। मेरी इच्छा फिर से जागृत हो उठी, और अब श्रीमान् पंडित जुगलकिशोर जी के पत्र से तो मैं अपने लोभ को संवरण ही न कर सका।

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी और उक्त पुस्तक पर सम्मतिदाता बाबू अजितप्रसाद जी वकील का कथन है कि "बौद्धमत के सिद्धान्त जैन सिद्धान्त से बहुत मिल रहे हैं"। "जैन व बौद्ध में कुछ भी अन्तर नहीं है। चाहे बौद्धधर्म प्राचीन कहें या जैनधर्म कहें एक ही बात है"। इन महानुभावों का कथन है कि "जीव तत्त्व के ध्रुवरूप अस्तित्व में और शाश्वत मोक्ष की प्राप्ति में बौद्ध और जैनागम में विरोध नहीं है"। हम यहाँ पाठकों को यह बताना चाहते है कि उक्त विचार अत्यंत भ्रामक हैं। जैनधर्म को उत्कृष्ट और प्राचीन सिद्ध करने के लिये इस तरह के विचारों को जनता में फैलाना, यह जैन और बौद्ध दोनों ही धर्मो के प्रति अन्याय करना है। ब्रह्मचारी जी "बौद्ध साधुओं के साथ वार्त्तालाप करने" मात्र से ही उक्त निर्णय पर पहुँच गये है। सचमुच ब्रह्मचारी जी अपने उक्त क्रान्तिकारक (?) विचारों से अकलंक आदि जैन विद्वानो की भी अवहेलना कर गये हैं। नीचे की बातों से स्पष्ट होगा कि ब्रह्मचारी जी के निष्कर्ष कितने निर्मूल हैं।

सबसे प्रथम बात तो यह है कि जैन परम्परा में इतने विद्वान हुए, पर किसी ने कहीं भी जैन और बौद्ध धर्म की आत्मा और निर्वाण-संबंधी मान्यताओं की समानता का उल्लेख नहीं किया। शायद ब्रह्मचारी जी को ही सबसे पहले यह अनौखी सूझ सूझी हो। इतना ही नहीं, जैन विद्वानों ने बौद्धों के आचार, उनकी आत्मा और निर्वाण-संबंधी मान्यताओं का घोर विरोध किया है। अकलंक देव ने राजवार्तिक आदि में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंच स्कंधो के निरोध से अभाव रूप जो बौद्धों ने मोक्ष माना हैं, उसका निरसन किया है, ओर आगे चलकर द्वादशांगरूप प्रतीत्यसमुत्पाद (पडिच्चसमुप्पाद) का निराकरण किया है। अव ज रा ब्रह्मचारी जी के शब्दों पर ध्यान दीजिये–

"संसार में खेल खिलाने वाले रूप, संज्ञा, वेदना, संस्कार व विज्ञान जब नष्ट हो जाते है, तव जो कुछ शेष रहता है, वही शुद्ध आत्मा है। शुद्ध आत्मा के संबंध में जो जो विशेषण जैन शास्त्रों में हैं, वे सव वौद्धों के निर्वाण के स्वरूप से मिल जाते हैं। निर्वाण कहो या शुद्ध आत्मा कहो एक ही वात है। दो शब्द हैं, वस्तु दो नहीं हैं"।

एक ओर अकलंक देव बौद्धों के अभावरूप मोक्ष का खंडन करते हैं दूसरी ओर ब्रह्मचारी जी उसे जैनधर्म द्वारा प्रतिपादित बताकर उसकी पुष्टि करते हैं।

ब्रह्मचारी जी ने अपनी उक्त पुस्तक में जैन और बौद्ध पुस्तकों के अनेक उद्धरण देकर जैन और बौद्धों की आत्म-संबंधी मान्यता को वताने का निष्फल प्रयत्न किया है। किन्तु हम यह बता देना चाहते हैं कि दोनों धर्मो की आत्मा की मान्यता में आकाश-पातालका अंतर है। यदि महावीर आत्मवादी हैं–उनका सिद्धांत आत्मा की ही भित्ति पर खड़ा है तो बुद्ध अनात्मवादी हैं और उनका सिद्धांत अनात्मवाद के बिना जरा भी नहीं टिक सकता। महावीर ने सर्वप्रथम आत्मा के ऊपर जोर दिया है और बताया है कि आत्मशुद्धि के बिना जीव का कल्याण होना असंभव है, और वस्तुतः इसीलिये जैनधर्म में सात तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। तथा वौद्धधर्म में इसके विपरीत ही है। बुद्ध के 'सर्व दुःख,

सर्व क्षणिक, सर्व अनात्म' सिद्धांतों की भित्ति अनात्मवाद के ही ऊपर स्थित है। बुद्ध के अष्टांग मार्ग में भी आत्मा का कहीं नाम नहीं आता। वहाँ केवल यही बताया गया है कि मनुष्य को सम्यक् आचार-विचार से ही रहना चाहिये। इतना ही नहीं, बल्कि बुद्ध ने स्पष्ट कहा है कि मैं नित्य आत्मा का उपदेश नहीं करता, क्योंकि इससे मनुष्य को आत्मा ही सर्वप्रिय हो जाती है और उससे मनुष्य उत्तरोत्तर अहंकार का पोषण कर दुःख की अभिवृद्धि करता है। इसलिये मनुष्य को आत्मा के झमेले में न पड़ना चाहिये इसी बात को तत्त्वसंग्रहपंजिकाकार ने कितनी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है:-

साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबंधो।
नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्यां।।
अन्यः शास्ता जगति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी।।
नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्ति मार्गः।।

यही कारण है कि बुद्ध ने आत्मा आदि को 'अव्याकत' (न कहने योग्य) कहकर उसकी ओर से उदासीनता बताई है।

यहां बौद्धों का आत्मा के विषय में क्या सिद्धांत है, इस पर कुछ संक्षेप में कहना अनुचित न होगा। बौद्धों का कथन है कि रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पंच स्कंधों को छोड़कर आत्मा कोई पृथक् वस्तु नहीं है। इस विषय पर 'मिलिन्दपञ्ह' में जो राजा मिलिन्द और नागसेन का संवाद आता है, उसका अनुवाद नीचे दिया जाता है:-

"मिलिन्द-भन्ते, आपका क्या नाम है?

नागसेन-महाराज, नागसेन। परन्तु यह व्यवहार मात्र है, कारण कि पुद्गल (आत्मा) की उपलब्धि नहीं होती।

मिलिन्द-यदि आत्मा कोई वस्तु नहीं है, तो आप को कौन पिंडपात ((भिक्षा) देता है, कौन उस भिक्षा का भक्षण करता है, कौन शील की रक्षा करता है, और कौन भावनाओं का चिन्तन करने वाला है? तथा

फिर तो अच्छे, बुरे कर्मों का् कोई कर्त्ता और भोक्ता भी न मानना चाहिये। आदि।

नागसेन–मैं यह नहीं कहता।

मिलिन्द–क्या रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान मिलकर नागसेन बने हैं?

नागसेन–नहीं।

मिलिन्द–क्या पाच स्कंधों के अतिरिक्त कोई नागसेन है?

नागसेन–नहीं।

मिलिन्द–तो फिर सामने दिखाई देने वाले नागसेन क्या हैं?

नागसेन–महाराज, आप यहां रथ से आये हैं, या पैदल चलकर?

मिलिन्द–रथ से?

नागसेन–आप यहाँ रथ से आये हैं तो मैं पूछता हूं कि रथ किसे कहते हैं? क्या पहियों को रथ कहते है? क्या धुरे को रथ कहते है? क्या रथ में लगे हुए डण्डों को रथ कहते हैं?

(मिलिन्द ने इनका उत्तर नकार में दिया)

नागसेन–तो क्या पहिये, धुरे, डण्डे आदि के अलावा रथ अलग वस्तु है?

(मिलिन्द ने फिर नकार कहा)

नागसेन–तो फिर जिस रथ से आप आये हैं वह क्या है?

मिलिन्द–पहिये, धुरे, डण्डे आदि सबको मिलाकर व्यवहार से रथ कहा जाता है; पहिये आदि को छोड़ कर रथ कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं।

नागसेन–जिस प्रकार पहिये, धुरे आदि के अतिरिक्त रथ का स्वतंत्र

अस्तित्व नहीं है, उसी तरह रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पाच स्कधो को छोड़कर नागसेन कोई अलग वस्तु नहीं हैं।"

'विसुद्धिमग्ग' मे भी निम्न श्लोक द्वारा उक्त भाव ही व्यक्त किया गया है.–

दुक्खमव हि न कोचि दुक्खितो।
कारको न किरिया व विज्जति।
अत्थि निव्वुत्ति न निव्वुत्तो पुमा।
मग्गमत्थि गमको न विज्जति।

क्या कोई जेनधर्म का अभ्यासी उक्त मान्यता को जैनधर्म की मान्यता सिद्ध करने का दावा कर सकता है? यदि कोई कहे कि उक्त मान्यता बुद्ध की मान्यता नहीं; बुद्ध ने तो आत्मा को 'अव्याकत' कहा है, या उसके विपय मे तूष्णीभाव रक्खा है तो इसके उत्तर में हम कहेंगे कि फिर भी बुद्ध की मान्यता को हम जैन मान्यता कभी नहीं कह सकते। महावीर ने आत्मा की कभी उपेक्षा नही की। बल्कि उन्होंने तो डके की चोट से घोपणा की कि **"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ"** अर्थात् जा एक (आत्मा) को जानता है, वह सब कुछ भी नहीं जानता। जिस तरह जैन शास्त्रों में 'अणु-गुरु-देह प्रमाण' आदि लक्षणों के साथ आत्मा का विशद और विस्तृत वर्णन देखने मे आता है क्या उस तरह का वर्णन ब्रह्मचारी जी ने किसी बौद्ध ग्रन्थ में देखा है? यदि नहीं, तो उनका दोनो धर्मो को समान बताना आत्मवंचन है, धर्म-व्यामोह है, विडंवना है और साथ ही जैन आचार्यो की अवमानना है।

जैन और वौद्ध धर्म में दूसरी बड़ी भारी विषमता यह है कि बौद्ध धर्म मे मांस भक्षण का प्रतिपादन है जबकि जैन ग्रंथों में कहीं इस बात का नाम-निशान भी नहीं। यह हो सकता है कि बुद्ध ने अमुक प्राणियों के मास भक्षण करने की आज्ञा न दी हो, जैसे यहूदी आदि धर्मो में भी पाया जाता है, पर मांसाहार का उन्होंने सर्वथा निषेध नहीं किया।

मज्झिमनिकाय के जीवकसुत्त में जीवक ने बुद्ध से प्रश्न किया, है कि भगवान्! लोग कहते है कि बुद्ध उद्दिष्ट भोजन स्वीकार करते हैं वे उद्दिष्ट मांस का आहार लेते हैं, क्या ऐसा कहने वाले मनुष्य आपकी और आपके धर्म की निन्दा नहीं करते, अवहेलना नहीं करते? इसके उत्तर में बुद्ध कहते हैं–

"न मे ते कुत्तवादिनो अब्भाचिक्खंति च पन में ते असाता अभूतेन। तीहि खो अहं जीवक ठाने हि मंसं अपरिभोगं ति वदामिः– दिट्ठं, सुतं, परिसंकितं। इमेहि खो अहं जीवक तीहि ठानेहिमंसं अपरिभोगं ति वदामि। तीहि खो अहं जीवक ठाने हि मंसं परिभोगं ति वदामिः–अदिट्ठं, असुतं, अपरिसंकितं। इमेहि खो अहं जीवक तीहि ठानेहि मंसं परिभोगं ति वदामि।"

यह कहने वाले मनुष्य असत्यवादी नही, वे धर्म की अवहेलना करने वाले नहीं हैं; क्योंकि मैंने तीन प्रकार के मांस को भक्ष्य कहा है–जो देखा न हो (अदिट्ठ) सुना न हो (असुत), और जिसमें शंका न हो (अपरिसंकित)। बडा आश्चर्य है कि बुद्ध का मॉस-संबंधी उक्त स्पष्ट वचन होने पर भी ब्रह्मचारी जी उक्त वचन के विषय में शंका करते हुए लिखते हैं "यह वचन कहाँ तक ठीक है, यह विचारने योग्य है।" भले ही उक्त कथन ब्रह्मचारी जी के विचार में न बैठता हो, पर कथन तो अत्यंत स्पष्ट हैं। पर ब्रह्मचारी जी तो किसी भी तरह जैन और बौद्धधर्म को एक सिद्ध करने की धुन में हैं। ब्रह्मचारी जी ने आगे चलकर 'लंकावतार' सूत्र से ढेर के ढेर मांस-निषेध के उद्धरण पेश किये हैं। किन्तु शायद उन्हें यह ज्ञान नहीं कि लंकावतार सूत्र महायान बौद्ध सम्प्रदायका ग्रंथ है, और वह संस्कृत में है; जबकि बुद्ध के मूल उपदेश पाली में है और 'मज्झिमनिकाय' पाली-विचार की जैन धर्म के आचार से तुलना करना, यह लोगों की ऑखों में धूल झोंकना है। वस्तुतः बात तो यह है कि बुद्ध अपने धर्म को सार्वभौमधर्म बनाना चाहते थे, और

इसलिए वे मांस निषेध की कड़ी शर्त उसमें नहीं लगाना चाहते थे। परन्तु महावीर इसके सख्त विरोधी थे।

ब्रह्मचारी जी ने एक और नई खोज की हैं उनका कथन है कि "बुद्ध ने महावीर की नग्न मुनिचर्या को कठिन समझा, इसीलिये उन्होंने वस्त्रसहित साधुचर्या की प्रवृत्ति चलाई; तथा मध्यममार्ग जो श्रावकों ब्रह्मचारी श्रावकों का है, उसका प्रचार गौतम बुद्ध ने किया–सिद्धांत एक रक्खा।" ब्रह्मचारी जी की स्पष्ट मान्यता है कि जैनधर्म और बौद्धधर्म सिद्धांतों में कोई अंतर नहीं–अंतर सिर्फ इतना ही है कि महावीर ने नग्न-चर्या का उपदेश दिया, जब कि बुद्ध ने सवस्त्र-चर्या का। यदि ऐसी ही बात है तो फिर बौद्धधर्म और श्वेताम्बर जैनधर्म में तो थोड़ा भी अन्तर न होना चाहिये। किन्तु शायद ब्रह्मचारी जी को मालूम नहीं कि जितनी कड़ी समालोचना बौद्धधर्म की दिगम्बर शास्त्रों में मिलती है, उतनी ही श्वेताम्बर ग्रंथों में भी है। महावीर की स्तुति करते हुए अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका में हेमचन्द्रआचार्य ने बुद्ध की दयालुता का उपहास करते हुए उन पर कटाक्ष किया है। वह श्लोक निम्न रूप से है:–

जगत्यनुध्यानबलेन शश्वत् कृतार्थयत्सु प्रसभंभवत्सु।
किमाश्रितोऽन्यैःशरणं त्वदन्यः स्वमांसदानेन वृथा कृपालुः।।

अपने उपकार-द्वारा जगत् को सदा कृतार्थ करने वाले ऐसे आपको छोड़कर अन्यवादियों ने अपने मांस का दान करके व्यर्थ ही कृपालु कहे जाने वाले की क्यों शरण ली, यह समझ में नहीं आता। (यह कटाक्ष बुद्ध के ऊपर है)।

इतना ही नहीं, बुद्ध और महावीर के समय में भी जैन और बौद्धों में कितना अन्तर था, कितना वैमनस्य था, यह बात पाली ग्रन्थों से स्पष्ट हो जाती है। यदि दोनों धर्मों में केवल वस्त्र रखने और न रखने के ही ऊपर वाद-विवाद था, तो बुद्ध महावीर के अन्य सिद्धांतों का कभी विरोध न करते; उन्हें केवल महावीर की कठिन चर्या का ही विरोध

करना चाहिये था, अन्य बातों का नहीं। 'मज्झिमनिकाय' के 'अभयराजकुमार' नामक सुत्त में कथन है कि एकबार निगण्ठ नाटपुत्त (महावीर) ने अपने शिष्य अभयकुमार को बुद्ध के साथ वाद-विवाद करने को भेजा। अभयकुमार ने बुद्ध से प्रश्न किया कि क्या आप दूसरों को अप्रिय लगने वाली वाणी बोलते हैं? बुद्ध ने विस्तृत व्याख्या करते हुए उत्तर दिया कि बुद्ध 'भूत, तच्छ (तथ्य) और अत्थसहित' वचनों का प्रयोग करते हैं, वे वचन चाहे प्रिय हों या अप्रिय। बुद्ध के उत्तर से संतुष्ट हो अभयकुमार ने कहा 'अनस्सुं निग्गण्ठा' (अनश्यन् निर्ग्रन्थाः) अर्थात् निर्ग्रंथ नष्ट हो गये।

महावीर और उनके अनुयायियों का चित्रण बौद्धों के पाली ग्रंथों में किस तरह किया गया है, यह बताने के लिये हम मज्झिमनिकाय के उपालिसुत्त का सारांश नीचे देते हैं–

एक बार दीर्घतपस्वी निर्ग्रथ बुद्ध के पास गये। बुद्ध ने प्रश्न किया, निर्ग्रथ ज्ञातपुत्र (महावीर) ने पाप कर्मो को रोकने के लिये कितने दण्डों का विधान किया है? दीर्घतपस्वी ने उत्तर दिया, तीन–कायदण्ड, वचोदण्ड और मनोदण्ड। बुद्ध ने पूछा इन तीनों में किसको महासावद्यरूप कहा है? दीर्घतपस्वी ने कहा कायदण्ड को। बाद में दीर्घतपस्वी ने बुद्ध से प्रश्न किया, आपने कितने दण्डों का विधान किया है? बुद्ध ने कहा, कायकम्म, वचीकम्म और मनोकम्म; तथा इनमें मनोकम्म को मैं महासावद्यरूप कहता हूँ। इसके पश्चात् दीर्घतपस्वी महावीर के पास आये। महावीर ने दीर्घतपस्वी का साधुवाद किया, और जिन शासन की प्रभावना करने के लिये उसकी प्रशंसा की। उस समय वहाँ गृहपति उपालि भी बैठे थे। उपालि ने महावीर से कहा कि आप मुझे बुद्ध के पास जाने की अनुमति दें, मैं उनसे इस विषय में विवाद करूँगा; तथा जैसे कोई बलवान पुरुष भेड़ के बच्चे को उठाकर घुमा देता है; उसी तरह मैं भी बुद्ध को हिला दूंगा, उनको परास्त कर दूंगा। इस पर दीर्घतपस्वी ने महावीर से कहा कि, भगवन्! बुद्ध मायावी हैं, वे अपने मायाजाल से अन्य तीर्थिकों

को अपना अनुयायी बना लेते हैं, अतः आप उपालि को वहाँ जाने की अनुमति न दें। परन्तु दीर्घतपस्वी के कथन का कोई प्रभाव नहीं हुआ, और उपालि बुद्ध से शास्त्रार्थ करने चल दिये। उपालि बुद्ध से प्रश्नोत्तर करते हैं, और बुद्ध के अनुयायी हो जाते है। अब उन्होंने अपने द्वारपाल से कह दिया कि आज से निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथिणियों के लिये मेरा द्वार बन्द है, और अब यह द्वार मैंने बौद्धभिक्षु और भिक्षुणियों के लिये खोल दिया है। (अज्जतग्गे सम्म दोवारिक, आवरामि द्वारं निगण्ठानं, निगण्ठीनं; अनावटं द्वारं भगवतो भिक्खूनं भिक्खुणीनं, उपसकानां, उपासिकानं)। इतना ही नहीं, उपालि ने द्वारपाल से कह दिया कि यदि कोई निर्ग्रंथ साधु आये तो उसे अन्दर आने के लिय रोकना, और कहना कि उपालि आज से बुद्ध का अनुयायी हो गया है। तथा यदि वह साधु भिक्षा मांगे तो कहना कि यहीं ठहरो, तुम्हें यही आहार मिलेगा। महावीर ने यह सब सुना और वे स्वयं एक दिन उपालि के घर आये। द्वारपाल ने उन्हें रोक दिया। द्वारपाल ने अन्दर जाकर कहा कि निगंठ नातपुत्त अपने शिष्यों को लेकर आये हैं, आपसे मिलना चाहते हैं। उपालि ने उन्हें आने दिया। परन्तु उपालि ने आसन पर बैठे-बैठे महावीर से कहा 'आसन विद्यमान है, चाहें तो बैठिये।' दोनों में प्रश्नोत्तर हुआ और उपालि ने बुद्ध शासन को ही उत्कृष्ट बताया।

इस प्रकार के पाली साहित्य के उल्लेखों को पढ़कर अत्यंत स्पष्ट है कि बुद्ध और महावीर का सिद्धांत एक न था, तथा उन दोनों में केवल चर्या का ही अंतर न था।

रात्रिभोजन-त्याग आदि दो-चार बातों का साम्य देख लेने मात्र से ही हम जैन और बौद्ध धर्म को एक नहीं कह सकते। ऐसे तो महाभारत आदि में भी 'वस्त्रपूतं जल पिबेत्'- आदि उल्लेख मिलते हैं। उपनिषद्-साहित्य तो ज्ञान और तप के अनुष्ठानों से भरा पड़ा है। शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रंथों में जगह-जगह वर्षा ऋतु में एक जगह रहना, आहार कम करना आदि साधुचर्या का विस्तार से वर्णन है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह सब जैनधर्म हैं। हम इतना ही कह सकते हैं कि यह सब श्रमण-संस्कृति के चिह्न हैं। पर श्रमण-संस्कृति में जैन

के साथ-साथ बौद्ध, आजीविक आदि संप्रदाय भी गर्भित होते हैं।

जैनधर्म और बौद्धधर्म में साम्य अवश्य है, पर उक्त बातों में नहीं। वह साम्य दूसरी ही बातों में है। आत्मा और निर्वाण-संबंधी बातों में तो विषमता ही है। उदाहरण के लिये कर्म सिद्धांत जैन और बौद्ध का मिलता जुलता है। दोनों महापुरुष गुणकर्म से ही मनुष्य को छोटा बड़ा मानते थे। दोनों ही महात्माओं ने सर्व साधारण भाषा में अपना उपदेश दिया था। दोनों अहिंसा के ऊपर जोर देते थे और पशु-वधका घोर विरोध करते थे। दोनों ब्राह्मणों के वेद को न मानते थे। दोनों का धर्म निवृत्ति प्रधान था। दोनों श्रमण-संस्कृति के अंग होने से एक दूसरे के बहुत पास थे। किन्तु दोनों का सिद्धांत एक न था। **महावीर आत्मवादी थे, बुद्ध अनात्मवादी, महावीर कमो ँ का क्षय होने से अनंत चतुष्टय रूप मोक्ष मानते थे, बुद्ध शून्यरूप-अभावरूप। महावीर का शासन तप-प्रधान था, बुद्ध का ज्ञानप्रधान।**

हमारी समझ में बिना सोचे समझे ऐसे साहित्य का सर्जन करना, साहित्य की हत्या करना है। और एक आश्चर्य और है कि ऐसा साहित्य जैन समाज में खप भी बहुत जल्दी जाता है। अभी तक किसी महानुभाव ने उक्त पुस्तक के विरोध में कुछ लिखा हो, यह सुनने में नहीं आया। अभी सुना है कि ब्रह्मचारी जी ने जैनधर्म और अरिस्टोटल (अरस्तू) के विषय में कुछ लिखा है, और शायद अरिस्टोटल को भी जैन बनाने का प्रयत्न किया गया है। आशा है इस लेख के पढ़ने से पाठकों में जैनधर्म और बौद्धधर्म के तुलनात्मक अभ्यास करने की कुछ अभिरुचि जागृत होगी।

सल्लेखना पूर्वक समाधि मरण

—पं. सनत कुमार, विनोद कुमार जैन

दर्शन में जहाँ जीवन को संयमित/संतुलित बनाने का निर्देश है, वहाँ मरण को भी सुव्यवस्थित करने की आज्ञा दी गई है। सुखमय भविष्य के लिये जीवन को जितना सुसंस्कारित करना आवश्यक है उतना ही मरण को व्यवस्थित करना आवश्यक होता है। जब हम अपने जीवन को अनंत भव धारण करने पर भी सुखी नहीं बना पाये। तब हमने मरण को कैसे सफल बना पाया होगा? यदि एक बार मरण समाधिपूर्वक हो जाये तो हमारा जीवन सुखमय हो जावेगा। एक मरण को सुव्यवस्थित करने के लिये हमें जीवन भर मरने की तैयारी करनी पड़ती। तब हम सफल समाधि मरण कर सकेंगे। आचार्यों ने बारह व्रतों के पालन करने के उपरान्त मरण के समय प्रीतिपूर्वक सल्लेखना व्रत ग्रहण करने को कहा है। तत्त्वार्थ सूत्र में बारह व्रतों के स्वरूप, भावना, और अतिचारों के साथ सल्लेखना व्रत का भी वर्णन किया है। सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण करने के लिये जीवन भर बारह व्रतों का पालन किया जाता है। अनंतों बार मरण करने पर भी मरण नहीं छूटा, यदि एक बार समाधिपूर्वक मरण हो जाये तो मरण छूटना निश्चित हो जायेगा। सल्लेखना में शरीर और कषाय को कृश करने का निर्देश किया है।

'सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना'[1]

भली प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना सल्लेखना है।

लिखेर्ण्यन्तस्य लेखना तनुकरणमिति यावत्।।[2]

लिख् धातु में णि प्रत्यय करने से लेखना शब्द बनता है उसका अर्थ तनु करण अर्थात् कृश करना है।

शरीर की कृशता के साथ कषाय की कृशता अनिवार्य है इसे साधना की अंतिम क्रिया कहा जाता है। जीवन भर किए गये तप का संयम फल निर्दोष, निरतिचार समाधि है। समाधि के अंत समय जितनी विशुद्धि, दृढ़ता, आत्मलीनता, राग द्वेषनिवृति, संसार स्वरूप का चिन्तन और आत्मा स्वरूप में ही विचारों का केन्द्रित होना होगा समाधि उतनी निर्दोष होगी। मन में उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष, मोह, भय, शोक आदि विकारी भावों को मन से दूर करके मन को अत्यन्त शान्त या समाधान रूप करके वीतराग भावों के साथ सहर्ष प्राण त्याग करने को समाधिमरण कहते हैं।[3] तथाहि–

वयणोच्चारण किरियं परिचत्तावीयराय भावेण।
जो झायदि अप्पाणं परम समाही हवे तस्स।।
संजम झायइ अप्पाणं परम समाहि हवे तस्स।।[4]

अर्थात्–वचनोच्चार की क्रिया परित्याग कर वीतराग भाव से जो आत्मा को ध्याता है उसे परम समाधि कहते हैं। संयम नियम और तप से तथा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान से जो आत्मा को ध्याना वह परम समाधि है। ऐसे चिन्तन पूर्वक समाधिमरण करने से भवों का अन्त होता है। **अज्ञानी शरीर द्वारा जीव का त्याग करते हैं और ज्ञानी जीव द्वारा शरीर का त्याग करते हैं।** अतः ज्ञानी जन का मरण ही सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण होता है। शरीर अपवित्र और नाशवान है। किन्तु वह तप का साधन होने से भव समुद्र को पार करने को नौका के समान है। इसके माध्यम से तप धारण कर कर्मो का संवर और निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त किया जाता है। यदि यह शरीर संयम तप आदि की विराधना में कारण बनने लगे तो धर्म के लिये शरीर का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि शरीर तो अनेक बार प्राप्त हुआ है और होगा भी किन्तु धर्म हमने अभी तक ग्रहण नहीं किया यदि वह धर्म छूट गया तो कब अवसर आयेगा कहा नहीं जा सकता है। शरीर का अन्त जान लेने पर, शरीर से धर्म साधन में बाधा आने पर सल्लेखना ग्रहण करना चाहिये।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरिस रुजायां च निः प्रतिकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्या।।[5]

प्रतिकार रहित उपसर्ग, दुष्काल, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित हो जाने पर धर्म के लिये शरीर के छोड़ने को गणधर देव सल्लेखना कहते हैं। सल्लेखना दो प्रकार से की जाती है—काय सल्लेखना और कषाय सल्लेखना। आहार आदि का शरीर की स्थिति देखकर क्रम-क्रम से त्याग करके शरीर कृश करना काय सल्लेखना है और संसार शरीर और भोगों से विरक्त होता हुआ जो कषायों को कृश किया जाता है वह कषाय सल्लेखना कहलाती है। मरण प्रकृति का शाश्वत नियम है, जन्म लेने वाले का मरण निश्चित है। मरण के स्वरूप की जानकारी होने पर मरण के समय होने वाली आकुलता से बचा जा सकता है। मोह के कारण जीव जन्म मरण के नाम से ही भयभीत रहता है अतः ज्ञानी जीव ही मरण भय से रहित होता है।

स्वपरिणामोपात्तस्यायुषइन्द्रियाणांलानां च कारणवशात् सक्षयो मरणं।।[6]

अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इन्द्रियों का और मन, वचन, काय इन तीन बलों का कारण विशेष मिलने पर नाश होना मरण है। दूसरे प्रकार से आयु कर्म का क्षय होना मरण कहलाता है—

आयुषः क्षयस्स मरणहेतुत्वात्।।[7]

आयु कर्म के क्षय को मरण का कारण माना है। उपरोक्त मरण में नये शरीर को धारण करने के लिये पूर्वशरीर का नष्ट होना तद्भव मरण कहलाता है एवं प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना नित्य मरण कहलाता है। संयम आदि की अपेक्षा मरण के भेदों को अन्य प्रकार से भी कहा गया है।

पंडिद पंडिद मरणं, पंडिदयं बाल पंडिद चेव।
वाल मरणं चउत्थं पंच मयं बाल बालं च।।[8]

पंडित-पंडित मरण, पंडित मरण, बाल पंडित मरण, बाल मरण और बाल बाल मरण ये मरण के पाँच भेद कहे गये हैं। इनमें प्रथम तीन मरण ही प्रशंसनीय हैं। प्रथम पंडित-पंडित मरण से केवलि भगवान् निर्वाण प्राप्त करते हैं। उत्तम चारित्र के धारी साधुओं के पंडित मरण होता है। विरताविरत जीवों के तीसरा बाल पंडित मरण होता है। बाल मरण अविरत सम्यक् दृष्टि के और बाल–बाल मरण मिथ्यादृष्टि के होता है।

दूसरे पंडित मरण के प्रायोपगमन मरण, इंगनि मरण और भक्त प्रत्याख्यान या भक्त प्रतिज्ञा मरण ये तीन भेद होते हैं।

आहारादिक के क्रम से त्याग करके शरीर को कृश करने की अपेक्षा तीनों मरण समान हैं। इनमें शरीर मे प्रति उपेक्षा के भाव का ही अन्तर है। जो मुनि न तो स्वयं अपनी सेवा करते हैं, और न ही दूसरों से सेवा, वैयावृत्ति कराते हैं। तृणादि का संस्तर भी नहीं रखते, इस प्रकार स्व पर के उपकार से रहित शरीर से निस्पृह होकर स्थिरता पूर्वक मन को विशुद्ध बनाकर मरण को प्राप्त करते हैं। उसे प्रायोपगमन मरण कहते हैं। जिसमें सल्लेखनाधारी अपने शरीर की सेवा, परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरों से सेवा वैयावृति नहीं कराता उसे इंगनि मरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं उठेगा, स्वयं बैठेगा और स्वयं लेटेगा। इस तरह वह अपनी समस्त क्रियायें स्वयं करता है। जिस संन्यास मरण में अपने और दूसरों के द्वारा किये गये उपकार वैयावृत्ति की अपेक्षा रहती है। उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। भव का अन्त करने योग्य संस्थान और संहनन को प्रायोग्य कहते हैं। इन की प्राप्ति होना प्रायोपगमन है। अर्थात् विशिष्ट संहनन व विशिष्ट संस्थान वाले ही प्रायोग्य ग्रहण करते हैं। स्व अभिप्राय को इंगित कहते हैं। अपने अभिप्राय के अनुसार स्थित होकर प्रवृत्ति करते हुये जो मरण होता है, वह इंगनिमरण कहलाता है। भक्त शब्द का अर्थ आहार है और प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है जिसमें क्रम से आहारादि का त्याग करते हुये मरण किया जाता है उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते

हैं। यद्यपि आहार त्याग उपरोक्त दोनों मरणों में भी होता है, तो भी इस लक्षण का प्रयोग रूढ़ि वश मरण विशेष में ही कहा गया है।

भक्तप्रत्याख्यान मरण सविचार और अविचार के भेद से दो प्रकार का है—नाना प्रकार के चारित्र का पालना, चारित्र में विहार करना विचार है। इस विचार के साथ जो वर्तता है वह सविचार है। जो गृहस्थ अथवा मुनि उत्साह या बलयुक्त हैं और जिसका मरण काल सहसा उपस्थित नहीं हुआ है। अर्थात् जिसका मरण दीर्घकाल के बाद होगा, ऐसे साधु के मरण को सविचार भक्तप्रतयाख्यान मरण कहते हैं। इसमें आचार्य पद त्याग, पर गण गमन, सबसे क्षमा, आलोचना पूर्वक प्रायश्चित ग्रहण विशेष भावनाओं का चिन्तन, क्रम पूर्वक आहार का त्याग आदि कार्य व्यवस्थित रहते हैं। जिनकी सामर्थ्य नहीं है, जिसका मरण काल सहसा उत्पन्न हुआ है, ऐसे पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। यह तीन प्रकार का है। (1) निरुद्ध (2) निरुद्धतर (3) परम निरुद्ध। रोगों से पीड़ित होने के कारण जिनका जंघा बल क्षीण हो गया हो, जिससे पर गण में जाने से असमर्थ हो वे उन मुनि के निरुद्ध विचार भक्तप्रत्याख्यान मरण करते हैं। इसके प्रकाश और अप्रकाश दो भेद हैं। क्षपक के मनोबल अर्थात् धैर्य, क्षेत्रकाल उनके वान्धव आदि का विचार करके अनुकूल कारणों के होने पर उस मरण को प्रकट किया जाता है वह प्रकाश है। प्रकट न करना अप्रकाश है। सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर म्लेक्ष, मूर्छा, तीव्रशूल रोग आदि से तत्काल मरण का प्रसंग होने पर जब तक काय बल शेष रहता है, और जब तक तीव्र वेदना से चित्त आकुलित नहीं होता और प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना जानकर अपने गण के आचार्य के पास अपने पूर्व दोषों की आलोचना कर जो मरण करता है वह निरुद्धतर आविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण है।

सर्प अग्नि आदि कारणों से पीड़ित साधु के शरीर का बल और वचन का बल यदि क्षीण हो जाये तो परम निरुद्ध अविचार भक्तप्रत्याख्यान

मरण कहते हैं।[9] अपने आयुष्य को शीघ्र क्षीण होता जानकर शीघ्र ही मन में अर्हंत व सिद्ध परमेष्ठी को धारण करके उनसे अपने दोषों की आलोचना करे तथा सर्व शल्य रहित ममत्व रहित होकर मोक्ष प्राप्ति के लिये दो प्रकार का संन्यास धारण करने का निर्देश प्राप्त होता है।

अस्मिन् देशेऽवधौ काले यदि मे प्राणमोचनम्।
तदास्तु जन्मपर्यन्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम्।।
जीविष्यामि क्वाचिद्वाहं पुण्येनोपद्रोपशमात्।।
करिष्ये पारणं नूनं धर्मचारित्रसिद्धये।।[10]

पहला सन्यास इस प्रकार धारण करना चाहिए कि इस देश में इतने काल तक यदि मेरे प्राण निकल जायें तो मेरे जन्म पर्यन्त चारों प्रकार के आहार का त्याग है। दूसरे सन्यास को इस प्रकार धारण करना चाहिये कि यदि में अपने पुण्य से इस घोर उपद्रव से कदाचित बच जाऊँगा तो मैं धर्म और चारित्र की सिद्धि के लिये इतने काल के बाद पारणा करूँगा। इस प्रकार सहसा मरण काल आने पर अपने मन को विशुद्ध बनाता हुआ आहारादिक का त्याग स्वयं भी कर सकता है, क्योंकि मरण काल में भावों की विशुद्धि का ही विशेष महत्व होता है। श्रावकों को मरण काल में महाव्रत ग्रहण कर लेना चाहिये, जिससे परिणाम विशुद्ध बनते हैं। इसके लिये भी क्रम से त्याग करना चाहिये।

धरिऊण वत्थमेत्तं परिग्गहं छंडिऊण अवसेसं।।
सगिहे जिणालय वा तिविहा हारस्स वोसरणं।।[11]

वस्त्र मात्र परिग्रह को रख कर और अवशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने ही घर में अथवा जिनालय में रहकर श्रावक गुरु के पास में मन, वचन और काय से अपनी भली प्रकार आलोचना करता है और पानी के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग करता है। श्रावक अन्त समय में स्नेह, बैर और परिग्रह को छोड़कर शुद्ध होता हुआ, प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और नौकरों से क्षमा कराते हुये आप भी सब को क्षमा करे। समस्त पापों की आलोचना करे और मरण पर्यन्त रहने

वाले महाव्रतों को धारण करे।[12] यदि चारित्र मोहनीय कर्म का उदय रहने से वह दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकता तो मरण समय उपस्थित होने पर संस्तर श्रमण हो जाना चाहिये। यदि यह भी शक्य न हो तो सल्लेखना का अनुष्ठान करते हुये क्रम से आहार आदि का त्याग करना चाहिये।[13] धनवान और धन रहित श्रावकों को भी ग्रन्थों में अन्त समय के लिये मार्ग प्रशस्त किया गया है।

तत्कर्तुं गुरुणा दत्तं प्रायश्चित्तं तपोऽक्षमा।
धनिनो ये जिनागारे स्वयं सर्वत्र शुद्धये।।
दद्युर्धनं स्व शक्त्या ते परे दोषादिहानये।
प्रायश्चित्तं तु कुर्वन्तु तपांस्यनशनादिभिः।।[14]

अर्थात्–समाधिमरण के लिये उद्यत धनी गृहस्थ गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त तप को धारण करने में असमर्थ हो तो वे स्वयं शुद्धि के लिये जिनालय में धन का दान करें तथा दूसरे लोग अपनी शुद्धि के लिये शक्ति अनुसार अनशन, ऊनोदर आदि के द्वारा अपने पापों की शुद्धि करें। धन के प्रति आसक्ति कम करने के लिए धन दान करने का निर्देश दिया गया है। श्रावकों को अन्त समय में महाव्रत अवश्य धारण करना चाहिये तभी श्रावक धर्म की सफलता मानी जाती है। शरीर के अन्तिम संस्कार के समय तीर्थकरों, गणधर देवों, सामान्य केविलयों एवं महाव्रनियों के शरीर के अन्तिम संस्कार का ही वर्णन शास्त्रों में मिलता है। अतः प्रतिफलित होता है कि श्रावकों को अन्त समय में महाव्रती अवश्य होना चाहिये। समाधि मरण करने वाला प्रीति, बैर, ममत्व और परिग्रह को छोड़कर स्वच्छ हृदय होता हुआ मधुर वचनों से क्षमा करता और कराता है; शरीर को भार स्वरूप समझता है। किसी प्रकार का शोक नहीं करता है, भूख प्यास की बाधा सहन होगी कि नहीं यह सोच समाप्त हो जाती है और क्रम-क्रम से आहार का त्याग करता है। एक साथ पूर्ण आहार त्याग देने से क्षपक को आकुलता हो सकती है, अतः सल्लेखना विधि कराने वाले निर्यापकाचार्य क्षपक की शक्ति को देखकर क्रम से आहार का त्याग कराते हैं। प्रथम कवलाहार (दाल, चावल रोटी आदि) का त्याग कराकर

स्निग्ध पेय दूध आदि देते हैं। इसके बाद छाछ देकर इसका भी त्याग कराके मात्र गर्म जल देते हैं। शक्ति के अनुसार उपवास करते हुये पंच परमेष्ठी का स्मरण कर शरीर का त्याग किया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया में सल्लेखना कराने वाले आचार्य (निर्यापकाचार्य) की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। क्योंकि रोग की वेदना, तीव्र राग का उदय, विषयों की लिप्तता आदि के समय मन विचलित होने लगता है तब निर्यापकाचार्य अपने संबोधन से क्षपक के विचारों में स्थिरता प्रदान करते हैं। अतः श्रेष्ठ निर्यापकाचार्य होना आवश्यक है। निर्यापकाचार्य के आठ गुण कहे गये हैं।

आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः।
आयापाय दृगुउत्पीडी सुखकार्यपरिस्रवः।।[15]

आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान प्रकारक (कर्ता), आयापाय, दृग, उतपीड़क और परिस्रावी इन आठ गुणों से सहित निर्यापकाचार्य होना चाहिये। क्योंकि बिना आचार्य के उपदेश के मन की शुद्धि, स्थिरता नहीं होती है।

शरीर के रिष्टों से स्थिति समझकर सल्लेखना ग्रहण की जाती है। काल की अपेक्षा सल्लेखना उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार की होती है। उत्कृष्ट बारह वर्ष, मध्यम काल के असंख्यात भेद है। जघन्य काल अन्तर्मुइर्त है। उत्कृष्ट बारह वर्ष की सल्लेखना में आहारादि के त्याग का क्रम निम्नानुसार है

जोगेहिं विचित्तेहिं दुखवेइ संवच्छ राणी चत्तारि।
वियडीणि य जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेई।।
आयं विलणि व्वियडी हिंदोण्णि आयं विलेण एक्कं च।
अद्धंणा दि विगट्ठे हिंतदो अद्धं विगट्ठे हिं।।[16]

विचित्र प्रकार के काय क्लेशादि योग से चार वर्ष पूर्ण करें पश्चात् चार वर्ष रस रहित भोजन से शरीर कृश करे। आचाम्ल (अल्पाहार) तथा नीरस भोजन से दो वर्ष पूर्ण करे पश्चात् अल्पाहार से एक वर्ष पूर्ण

करे। इसके बाद छह महिने अनुत्कृष्ट तप करे और अंतिम छह महिने उत्कृष्ट तप कर बारह वर्ष पूर्ण करे। समाधि मे आचार्य को क्षपक के भावों की स्थिरता का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। यदि भावों में कोई विकार आ जावे तो समाधि विकृत हो जाती है। अतः निर्दोष और निर्विघ्न समाधि करने के लिये उत्कृष्ट अड़तालीस परिचारक मुनियों की आवश्यकता होती है। मध्यम रीति से परिचर्या करने वाले साधुओं की संख्या चार चार कम करते जाना चाहिये। अत्यन्त निकृष्ट में भरत क्षेत्र में जघन्य रूप से दो मुनिराज निर्यापक, निर्यापक परिचारक पद से ग्रहण करना चाहिये। अकेला एक साधु समाधि कराने में समर्थ नहीं होता है। निर्यापक के बिना क्षपक अशान्ति से मृत्यु को प्राप्त करता है अतः भयानक दुर्गति में जाता है। **निर्दोष उत्कृष्ट समाधि में अड़तालीस साधुओं का कार्य विभाजन निम्न प्रकार से किया जाता है—चार मुनि आहार लाते हैं। चार मुनि पेय पदार्थ लाते हैं। चार मुनि आहार पान का रक्षण करते हैं चार मुनि क्षपक के मल मूत्र को साफ करते हैं। एवं सूर्योदय और सूर्यास्त के समय वसतिका, उपकरण और संस्तर आदि का शोधन करते हैं: चार मुनि वसतिका के द्वार का और चार मुनि समवशरण (सभा-स्थान) के द्वार का प्रयत्नपूर्वक रक्षण करते हैं। चार मुनि उपदेश मण्डप का रक्षण करते हैं। चार मुनि क्षपक के पास रात्रि जागरण करते हैं। चार मुनि निवास स्थान के बाह्य क्षेत्र की शुभाशुभ वार्ता का निरीक्षण करते हैं। चार मुनि श्रोताओं को उपदेश देते हैं चार मुनि वाद-विवाद करने वालों के साथ वाद-विवाद करके सिद्धान्त का रक्षण करते हैं। चार मुनि राज धर्म कथा करने वालों का रक्षण करते हैं। अर्थात् बराबर व्यवस्था बनाये रखने को इधर-उधर घूमते रहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्टतः अड़तालीस परिचारक मुनि संसार समुद्र से प्रयाण करने वाले क्षपक को रत्नत्रय पूर्वक समाधि में लगाये रहते हैं।** किन्तु क्षपक को प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित, उपदेश, तीन प्रकार के आहार का त्याग एवं प्रश्न

आदि करने का कार्य निर्यापकाचार्य ही करते हैं।[17] क्षपक को रोगादि से मुक्ति के लिये जिन वचन ही औषधि हैं ऐसा उपदेश देकर जिन धर्म में दृढ़ता करके आराधनाओं की आराधना में लीनता प्रदान की जाती है। जो क्षपक सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप की उत्कृष्ट आराधना करते हैं वे उसी भव से सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। मध्यम आराधना करने वाले धीर वीर पुरुष तीन भव में कर्म रहित अवस्था अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। जघन्य आराधना करने वाले सात जन्मों में सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। समाधि की अनुमोदना करने वाले और क्षपक के दर्शन करने वाले भी समाधि पूर्वक मरण कर निकट भव में सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। सल्लेखना मनुष्य भव की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।

संदर्भ सूची

1. सवार्थ सिद्धि -7/22, 2. राज वार्तिक -7/22/3, 3. समाधि मरणोत्साह दीपक-1, 4. नियमसार -122-123, 5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 5/1, 6. सवार्थ सिद्धि 7/22, 7. धवला 1.1.1.33, 8. भगवती आराधना 26, 9. भगवती आराधना 2011 से 2024, 10. मूलाचार प्रदीप 2819-2820, 11. वसुनंदि श्रावकाचार 271, 12. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 5/4, 13. सावय पन्नति 378, 14. समाधि मरणोत्साह दीपक 35, 15. मरण कण्डिका 433, 16. भगवती आराधना 258, 259, 17. समाधि दीपक 21.22 पृ. -1

—मु.पो.– रजवाँस
जिला-सागर (म.प्र.)

आयुर्वेद के ग्रंथों की रचना प्रक्रिया में जैन मनीषियों का योगदान

—आयुर्वेदाचार्य राजकुमार जैन

जिनागम परम्परा में आयुर्वेद को लौकिक विद्या के रूप में स्वीकार किया गया है और उसे **'प्राणावाय'** संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। जैन धर्मानुसार सम्पूर्ण जिनागम द्वादशांग रूप अथवा द्वादशांग में विभक्त है। सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव (परमेष्ठी) के मुखारविन्द से मुखरित दिव्य ध्वनि को सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के धारक गणधर द्वारा जब धारण किया गया तो ज्ञान रूप वह दिव्य ध्वनि बारह भेदों में विभक्त हुई जिसे आचारांग आदि के रूप में निरूपित किया गया। इस प्रकार गणधर द्वारा निरूपित ज्ञान रूप आगम के बारह भेदों को द्वादशांग की संज्ञा दी गई। उन द्वादशांगों में प्रथम 'आचारांग' है और बारहवां 'दृष्टिवादांग' है। उस बारहवें दृष्टिवादांग के पांच भेद हैं जिनमें से एक भेद है **'पूर्व'** या **'पूर्वगत'**। उस 'पूर्व' (पूर्वगत) के चतुर्दश भेद हैं जिनमें एक (बारहवां) **प्राणावाय** नाम का भेद है। द्वादशांग के इसी **'प्राणावाय'** नामक अंग में सम्पूर्ण अष्टांग आयुर्वेद का कथन किया गया है। राजवार्तिक में **'प्राणावाय'** का स्वरूप निम्न प्रकार से वर्णित है—

"कायचिकित्साद्यष्टांगमायुर्वेदः भूतिकर्मजांगुलिप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायम्।"

अर्थात् जिस शास्त्र में काय, तद्गत दोष और चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया हो, पृथ्वी आदि महाभूतों की क्रिया, विषैले प्राणियों और उनके विष की चिकित्सा आदि तथा प्राण—अपान का विभाग जिसमें विस्तार पूर्वक वर्णित हो वह **'प्राणावाय'** है।

गोम्मटसार (जीवकाण्ड) की जीवतत्वप्रदीपिका संस्कृत छाया निम्न प्रकार है–**प्राणानां आवादः प्ररूपणमस्मिन्निति प्राणावायं द्वादशं पूर्वं, तच्च कायचिकित्साद्यष्टांगमायुर्वेदभूतिकर्मजांगुलिकप्रक्रमं इलापिंगला-सुषुम्नादिबहुप्रकारप्राणापानविभागं दशप्राणानां उपकारकद्रव्याणि गत्याद्यनुसारेण वर्णयति। तत्र द्विलक्षगुणितपंचाशदुत्तरषट्छतानि पदानि त्रयोदशकोटय इत्यर्थः।**

अर्थात् प्राणों का आवाद–कथन जिसमें है वह 'प्राणावाद' नामक बारहवां पूर्व है। वह कायचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, जननकर्म, जांगुलि प्रक्रम, ईड़ा–पिंगला–सुषुम्ना आदि अनेक प्रकार के प्राण–अपान (श्वासोच्छ्वास) के विभाग तथा दश प्राणों के उपकारक–अपकारक द्रव्य का गति आदि के अनुसार वर्णन करता है। उसमें दो लाख से गुणित छह सौ पचास अर्थात् तेरह करोड़पद हैं।

इस प्रकार द्वादशांग में आयुर्वेद का प्रतिपादन होने से जैन धर्म में प्राणावाय के रूप में आयुर्वेद की प्रामाणिकता सुस्पष्ट है। जिन आचार्यों, मनीषियों एवं विद्वत्प्रवरों के द्वारा प्राणावाय को अधिकृत कर विशाल साहित्य के रूप में जो विपुल ग्रंथों की रचना की गई उनमें से वर्तमान में जो उपलब्ध साहित्य या ग्रंथ हैं। उनका अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि प्राणावाय की अद्यावधिक विकास यात्रा में अनेक उतार–चढ़ाव रूपात्मक परिवर्तन आए हैं। वर्तमान में हमारे समक्ष प्राणावाय परम्परा का एक मात्र प्रतिनिधि ग्रंथ 'कल्याण कारक' है जिसकी रचना आठवीं शताब्दी के अन्त में दिगम्बर आचार्य श्री उग्रादित्य ने की थी। यही एकमात्र ऐसा ग्रंथ है जिसमें प्राणावाय की प्राचीन परम्परा और उस परम्परा के अन्तर्गत कतिपय आचार्यों और उनके द्वारा लिखित ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। इसके पूर्व या बाद का ऐसा कोई प्रामाणिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है जो प्राणावाय के समबन्ध में आधिकारिक रूप से प्रकाश डालता हो। अतः इससे यह स्पष्ट है कि प्राणवाय पूर्व (जैनायुर्वेद) की प्राचीन परम्परा मध्य युग से पूर्व ही लुप्त हो चुकी थी।

यद्यपि मध्य युग से पूर्व के दो मनीषी आचार्यों श्री समन्तभद्र स्वामी (द्वितीय शताब्दी) और श्री पूज्यपाद स्वामी (चतुर्थ शताब्दी) के द्वारा आयुर्वेद के ग्रन्थों की रचना किए जाने का उल्लेख और कुछ अपूर्ण जानकारी मिलती है जिसकी चर्चा आगे इन आचार्यों सम्बन्धी प्रकरण में की जायेगी, किन्तु वर्तमान में इन दोनों आचार्यों द्वारा लिखित कोई भी ग्रंथ अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। अतः यह कह पाना सम्भव नहीं है कि द्वितीय–चतुर्थ शताब्दी में प्राणावाय की परम्परा विद्यमान रही है। किन्तु इतना अवश्य है कि श्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा विरचित आयुर्वेद के अष्टांगों से युक्त कोई ग्रंथ (सम्भववतः अष्टांग संग्रह) श्री उग्रादित्याचार्य (आठवीं शताब्दी) के समय में अवश्य ही विद्यमान रहा होगा जिसके आधार पर कल्याणकारक ग्रंथ की रचना किए जाने का स्पष्ट उल्लेख श्री उग्रादित्याचार्य ने किया है जो निम्न प्रकार है –

अष्टांगमप्यखिलत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचो विभवैर्विशेषात्।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम्।।

अर्थात् श्री समन्तभद्रस्वामी द्वारा वाणी वैभव की विशेषता से विस्तारपूर्वक अष्टांग से युक्त सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र का कथन किया गया था। उसे ही अपनी शक्ति के अनुसार समस्त पदार्थों (विषयों) से युक्त यह कल्याण कारक ग्रंथ संक्षेप रूप से मेरे द्वारा कहा गया।

मध्ययुग में भी कल्याणकारक ग्रंथ की रचना के अतिरिक्त किसी अन्य सर्वांगपूर्ण ग्रंथ की रचना का संकेत नहीं मिलने से यह स्पष्ट है कि मध्य युग में प्राणावाय परम्परा का ह्रास होता गया और कालान्तर में उसका लोप भी हो गया। यद्यपि इस परम्परा के लुप्त होने के अनेक कारण हो सकते हैं, तथापि मुख्य कारण अज्ञात है। सम्भावित कारणों में जैसे वैद्यक विद्या (चिकित्सा शास्त्र) को जैन धर्म में एक लौकिक विद्या को सीखना और उसका अभ्यास करना निष्प्रयोजन होने से ग्रंथ रचना करना सम्भव नहीं था, क्योंकि वे सतत भ्रमण शील रहते थे। एक स्थान पर ठहर कर रहना उनके लिए सम्भव नहीं था, वे एक स्थान

से दूसरे स्थान के लिए विहार करते रहते थे। श्रावक–श्राविकाओं की चिकित्सा करना उन्हें अभीष्ट नहीं था, क्योंकि इससे उनमें मोह उत्पन्न होने और परिग्रह वृत्ति बढ़ने की प्रबल सम्भावना रहती थी। अपनी या अपने संघस्थ साधु या साध्वी की चिकित्सा करने की अनुमति यद्यपि उन्हें थी, किन्तु चिकित्सा हेतु औषधि द्रव्य के लिए उन्हें अन्य मुखापेक्षी होना पड़ता था। औषधि द्रव्य की शुद्धता अशुद्धता का विचार भी उनके लिए महत्वपूर्ण था, क्योंकि बाहर से लाया गया ऐसा कोई भी द्रव्य जिसकी शुद्धता एवं ग्राह्यता सन्दिग्ध हो जैन साधु के लिए वर्जनीय होता है। परिणामस्वरूप इस विषय (विद्या) की निष्प्रयोजनीयता एवं इसके प्रति अरूचि होने से जैन साधुओं द्वारा इस विद्या के अध्ययन अध्यापन का लोप हो गया और लोप हो गया प्राणावाय परम्परा का।

जैन साधुओं–मुनियों की संयमशीलता और आचरण की शुद्धता निर्विवाद है। इससे वे निरोग और व्याधिकष्ट से मुक्त रहते हैं और इसीलिए उन्हें औषधि सेवन या औषधि प्रयोग की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। सम्भवतः यह भी एक कारण है जिससे उन्हें प्राणावाय के ग्रंथ प्रणयन से विरक्ति हुई। इसके अतिरिक्त आत्म साधना में रत जैन साधुओं, श्रावकों एवं धर्मानुरागियों को मुख्यतः अध्यात्म विद्या ही अभीष्ट रही है जिससे उनका आत्मकल्याण सम्भव था, अतः उसी ओर मुख्यरूप से उनका लक्ष्य रहा।

ऐसा होते हुए भी जो सन्दर्भ प्राप्त होते हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि अनेक जैन मनीषियों ने प्राणावाय (जैनायुर्वेद) आधारित ग्रंथों की रचना की थी जिनमें से अधिकांश वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं और जो उपलब्ध हैं भी, वे अपने उद्धार की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सम्भव है वे भी प्रतीक्षा करते करते काल कवलित नहीं हो जावें। इस विषय में श्री समन्तभद्र स्वामी एवं श्री पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित ग्रंथों की संक्षिप्त चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। यहां यह उल्लेख करना भी महत्वपूर्ण होगा कि दक्षिण भारत में फिर भी ईसा की आठवीं शती तक प्राणावाय

के ग्रंथों की जानकारी प्राप्त होती है, किन्तु उत्तर भारत में तो प्राणावाय से सम्बन्धित एक भी ग्रंथ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में यह परम्परा बहुत पहले ही विलुप्त हो चुकी थी। किन्तु इतना अवश्य है कि ईसा की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में कुछ मुनिजनों और जैन यतियों के द्वारा आयुर्वेदाधारित ग्रंथों की रचना की गई थी। किन्तु वे ग्रंथ प्राणावाय परम्पराधारित नहीं हो कर सामान्य आयुर्वेदाधारित हैं, क्योंकि उनमें प्राणावाय का उल्लेख कहीं भी किसी भी रूप में दृष्टिगत नहीं होता है। जिस प्रकार आयुर्वेद के अन्य सामान्य ग्रंथों में विभिन्न रोगों का निदान, लक्षण, चिकित्सा आदि का वर्णन प्राप्त होता है उसी प्रकार जैन यतियों के द्वारा रचित ग्रंथों में भी प्राप्त होता है। कुछ ग्रंथों में चिकित्सा योगों की बहुलता अवश्य मिलती है। इन ग्रंथों में कुछ तो मौलिक हैं और कुछ संग्रह ग्रंथ हैं। कुछ ग्रंथों पर यतियों द्वारा लिखी गई टीकाएं भी प्राप्त होती हैं जो संस्कृत अथवा देशी (प्रान्तीय) भाषा में है। कुछ ग्रंथ पद्यमय भाषानुवाद के रूप में हैं।

वर्तमान में उपलब्ध समग्र जैन वैद्यक वाङ्मय का अनुशीलन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल कल्याणकारक को छोड़कर अन्य समस्त वैद्यक ग्रंथों का प्रणयन मध्य युग में (ईशवीय 12वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी तक) किया गया। स्थान विशेष या प्रदेश की दृष्टि से देख जाय तो अधिकांश जैन वैद्यकग्रंथों का प्रणयन पश्चिमी भारत, जैसे राजस्थान, गुजरात, कच्छ, सौराष्ट्र में विशेषतः हुआ। पश्चिमोत्तर भारत के पंजाब प्रान्त में भी जैन वैद्यक ग्रंथों की रचना किए जाने की जानकारी प्राप्त हुई है, किन्तु उसकी उपलब्धता नहीं होने से निश्चित रूप से कुछ कह पाना सम्भव नहीं हैं इसी प्रकार कर्नाटक में भी कन्नड़, प्राकृत ओर संस्कृत भाषा में रचित अनेक ग्रंथों के विभिन्न शास्त्र भण्डारों, मठों में रखे होने की जानकारी प्राप्त हुई है।

जिन जैनाचार्यों द्वारा प्राणावाय या जैनायुर्वेद के ग्रंथों की रचना

किए जाने का उल्लेख या संदर्भ प्राप्त होता है उनका और उनके योगदान का संक्षिप्त वर्णन यहां प्रस्तुत है।

श्री समन्तभद्र – 'प्राणावाय' पूर्व की परम्परा में श्री समन्तभद्र स्वामी का नाम अग्रणी है, क्योंकि उनसे पूर्व किसी अन्य मुनि या आचार्य का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है जिसने प्राणावाय परम्परा के किसी ग्रंथ की रचना की हो। विभिन्न विद्वानों ने श्री समन्तभद्र स्वामी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, अतः यहां पर केवल उनकी प्राणावाय या आयुर्वेद सम्बन्धी कृतियों – ग्रंथों पर प्रकाश डाला जा रहा है। प्राणावाय सम्बन्धी निम्न तीन ग्रंथों की रचना उनके द्वारा किए जाने का संकेत या संदर्भ प्राप्त होता है –

1. **अष्टांग संग्रह** – आयुर्वेद के आठ अंगों (शल्य तंत्र, शालाक्य तंत्र, काय चिकित्सा, भूत विद्या, अगदतंत्र, कौमार भृत्य, रसायन तंत्र और वाजीकरण) का विस्तार पूर्वक निरूपण करने वालायह एक सर्वांग पूर्ण ग्रंथ था जिसके आधार पर जिनमत का अनुसरण करते हुए श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने 'कल्याण कारक' ग्रंथ की रचना की थी। इस आशय का कथन स्वयं श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने कल्याण कारक ग्रंथ मे किया है जो पूर्व में उद्धृत किया जा चुका है।

2. **सिद्धान्त रसायन कल्प** – इस ग्रंथ का उल्लेख श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री (सोलापुर) ने कल्याणकारक ग्रंथ की प्रस्तावना में किया है। इस ग्रंथ के कुछ श्लोक भी उन्होंने उद्धृत कर ग्रंथ के महत्त्व को रेखांकित किया है। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रंथ का अवलोकन उन्होंने स्वयं किया था। किन्तु यह अज्ञात है कि यह ग्रंथ उन्होंने कहां और किसके पास देखा है? अतः इस विषय में यदि गम्भीरता पूर्वक अन्वेषण किया जाय तो एतद्विषयक महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती है। इस ग्रंथ के वैशिष्ट्य के विषय में कल्याणकारक ग्रंथ की प्रस्तावना देखें।

3. **पुष्पायुर्वेद** – इसका उल्लेख भी श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

द्वारा 'कल्याणकारक' ग्रंथ की प्रस्तावना में किया गया है। इस ग्रंथ में अठारह हजार परागरहित पुष्पों से निर्मित रसायन औषधि प्रयोगों के विषय में बतलाया गया है। श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने इस ग्रंथ के विषय में निम्न प्रकार से प्रकाश डाला है – "इस पुष्पायुर्वेद ग्रंथ में क्रि. यू. 3रे शतमान की कर्नाटक लिपि उपलब्ध होती है जो बहुत मुश्किल से बांचने में आती है। इतिहास संशोधको के लिए यह एक अपूर्व व उपयोगी विषय है। अठारह हजार जाति के केवल पुष्पों के प्रयोगों का ही जिसमें कथन हो उस ग्रंथ का महत्व कितना होगा यह भी पाठक विचार करें। अभी तक पुष्पायुर्वेद का निर्माण जैनाचार्यों के सिवाय और किसी ने भी नहीं किया है। आयुर्वेद संसार में यह एक अद्भुत चीज है।

श्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित उपर्युक्त आयुर्वेद के तीनों ग्रंथों की ओर अभी तक किसी अन्य विद्वान या साहित्यानुरागी का ध्यान नहीं गया है और न ही उनके द्वारा रचित ग्रंथों की सूची में इन का समावेश किया है। कहीं ऐसा न हो कि हमारी उदासीनता श्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित इन महत्वपूर्ण ग्रंथों को कालकवलित कर दे।

2. पूज्यपाद (देवनन्दि)

दिगम्बर परम्परा के मनीषियों – आचार्यों में श्री पूज्यपाद स्वामी का नाम अत्यन्त श्रद्धापूर्वक लिया जाता है। दर्शन शास्त्र, तर्क विद्या, व्याकरण, वैद्यक शास्त्र, योगशास्त्र के प्रणेता के रूप में विश्रुत आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी जैन वाङ्मय और जिन धर्म के नभो मण्डल के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। विभिन्न जैन शास्त्रों एवं इतिहास ग्रंथों में उनके वैदूष्य के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। यहां केवल उनके द्वारा आयुर्वेद के प्रति किए गए योगदान पर प्रकाश डाला जा रहा है –

प्राप्त विवरण या सूचना के अनुसार श्री पूज्यपाद स्वामी ने 'कल्याण कारक' नामक वैद्यक ग्रंथ का निर्माण किया था जिसकी पुष्टि कन्नड़

भाषा एवं संस्कृति के मनीषी विद्वान जैनाचार्य जगद्दल सोमनाथ ने की है। उन्होंने पूज्यपाद स्वामी द्वारा लिखित कल्याणकारक ग्रंथ का कन्नड़ में अनुवाद एवं लिप्यन्तरण किया था। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ कितना महत्वपूर्ण है? प्रस्तुत ग्रंथ में पीठिका प्रकरण, परिभाषा प्रकरण, परिभाषा प्रकरण, षोडशज्वर चिकित्सा निरूपण प्रकरण आदि का प्रतिपादन विस्तार से किया गया है। कन्नड़ भाषा के प्राचीन वैद्यक ग्रंथों में यह ग्रंथ सर्वाधिक प्राचीन एवं व्यवस्थित है। पूज्यपाद स्वामी और उनके कल्याण कारक ग्रंथ की चर्चा करते हुए एक स्थान पर विद्वत्प्रवर जगद्दल सोमनाथ ने स्पष्ट लिखा है –

सुकरं तानेने पूज्यपादमुनिगलमुंपेलद कल्याणकारकमं
वाहटसिद्धसारचरकाद्युत्कृष्टतमं सदगुणाधिकमं
वर्जितमद्यमांसमधुवं कर्णाटदिं लोकरक्षमा
चित्रमदागे चित्रकवि सोमं पेलूदनिं तलितयिं।।

इसके अतिरिक्त आचार्य विजयण्ण उपाध्याय द्वारा लिखित (संकलित) **'सारसंग्रह'** नामक एक ग्रंथ की प्रति जैन सिद्धांत भवन, आरा में सुरक्षित है। इस ग्रंथ में जो मंगलाचरण दिया गया है उसमें स्पष्ट रूप से पूज्यपाद द्वारा कथित (लिखित) कल्याणकारक ग्रंथ का उल्लेख किया गया है। जिससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि पूज्यपाद स्वामी ने कल्याण कारक नामक ग्रंथ की रचना की थी। सारसंग्रह में विहित मंगलाचरण निम्न प्रकार है –

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने।
कल्याणकारको ग्रंथः पूज्यपादेन भाषितः।।
सर्वलोकोपकारार्थं कथ्यते सारसंग्रहः।

श्री पूज्यपाद द्वारा लिखित आयुर्वेद के अन्य अनेक ग्रंथों का उल्लेख मिलता है जिनमें से कुछ निम्न हैं– रत्नाकरौषध योग ग्रंथ, भैषज्यगुणार्णव, वैद्यसार, निदानमुक्तावलि, मदन कामरत्न,विद्याविनोद, पूज्यपाद वैद्यक, वैद्यक शास्त्र, नाड़ी परीक्षा आदि। आयुर्वेद के प्रसिद्ध

ग्रंथ 'योगरत्नाकर' में पूज्यपाद के नाम से चिकित्सोपयोगी अनेक रसयोगों को उद्‌धृत किया गया है जिससे पूज्यपाद द्वारा रचित रसशास्त्र प्रधान किसी विशाल चिकित्सा ग्रंथ के होने का संकेत मिलता है। इसी प्रकार 'वसवराजीयम्' नामक ग्रंथ में भी पूज्यपाद के नाम से अनके रसयोग उद्‌धृत किए गए हैं। जैसे भ्रमणादि वात रोग में 'गंधक रसायन' नामक योग के अन्त में लिखा है –

अशीतिवातरोगांश्चह्यर्शांस्यष्टविधानि च।
मनुष्याणां हितार्थाय पूज्यपादेन निर्मितः।।

इसी प्रकार कालाग्निरुद्र रस के पाठ में भी पूज्यपाद के नाम का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है –

अशीति वातजान् रोगान् गुल्मं च ग्रहणीगदान्।
रसः कालाग्निरूद्रोऽयं पूज्यपादविनिर्मितः।।

इसके अतिरिक्त वातादि रोगों में **'त्रिकटुकादि नस्य'** के पाठ में **"पूज्यपादकृतो योगो नराणां हतकाम्यया"**, ज्वरांकुश रस के पाठ में **"पूज्यपादोपदिष्टोऽयं सर्वज्वरगजांकुशः।"** चण्डभानुरसे– **"नाम्नायं चण्डभानुः सकलगदहरो भाषित पूज्यपादैः।"** शोफमुद्‌गर रसे **"शोफमुद्‌गरनामाऽयं पूज्यपादेन निर्मितः"** इत्यादि।

यदि इन समस्त योगों का संकलन किया जाय तो एक बृहद् ग्रंथ का निर्माण हो सकता है।

गुम्मट देव मुनिकृत मेरूदण्ड तंत्र

श्री गुम्मट देव मुनि ने 'मेरूदण्ड तंत्र' नामक ग्रंथ का निर्माण किया था जिसमें आयुर्वेदीय चिकित्सा सम्बन्धी रस योगों का उल्लेख है। इस ग्रंथ में लेखक ने श्री पूज्यपाद स्वामी का आदर पूर्वक स्मरण एवं उल्लेख किया है। वर्तमान में यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने 'कल्याणकारक' ग्रंथ के अपने सम्पादकीय वक्तव्य में पृष्ट 39 पर इसका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्तश्री विजयण्ण उपाध्याय द्वारा

रचित 'सारसंग्रह' (अपर नाम–अकलंक संहिता) में पृष्ट 33 से गुम्मट देव मुनि कृत **'मेरूदण्डतंत्र'** के नाड़ी परीक्षा, ज्वर निदान आदि अनेक प्रकरण संकलित किए गए हैं। इस के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में पूज्यपाद का सम्मानपूर्वक नामोल्लेख किया गया है।

डा. राजेन्द्रप्रकाश भटनागर के अनुसार गोम्मट देव ने अपने 'मेरूतंत्र' नामक वैद्यक ग्रंथ में पूज्यपाद को अपना गुरू बतलाते हुए उनके **'वैद्यामृत'** नामक ग्रंथ का उल्लेख निम्न पंक्तियों में किया है –

सिद्धान्तस्य च वेदिनो जिनमते जैनेन्द्रपाणिन्य च।
कल्पव्याकरणाय ते भगवते देवयालियाराधिपा(?)।।
श्री जैनेन्द्रवचस्सुधरसवरैः वैद्यामृतो धार्यते।
श्री पादास्य सदा नमोऽस्तु गुरवे श्री पूज्यपादौ मुनेः।।

इससे दो बातें स्पष्ट हैं कि श्री गुम्मट देव मुनि श्री पूज्यपाद स्वामी को अपना गुरू मानते थे और उनके द्वारा 'वैद्यामृत' नामक ग्रंथ की रचना की गई थी जो वर्तमान में दृष्टिगम्य नहीं है।

श्री विजयण्ण उपाध्याय कृत सारसंग्रह

इस ग्रंथ की एक प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा मे विद्यमान है जिसकी ग्रंथ संख्या 255 ख है। इस ग्रंथ का उल्लेख पं. के भुजबली शास्त्री द्वारा सम्पादित 'प्रशस्ति संग्रह' तथा "जैन सिद्धन्त भास्कर", भाग–6 किरण–2 में प्रशस्ति के अन्तर्गत किया गया है। श्री पं. के. भुजबली शास्त्री द्वारा दिए गए विवरण के अनुसार यह ग्रंथ राजकीय प्राच्य पुस्तकागार, मैसूर से लिपिबद्ध कराया गया है। वहां की मुद्रित ग्रंथ तालिका में ग्रंथ का नाम अकलंक संहिता और कर्ता का नाम अकलंक भट्ट लिखा मिलता है। किन्तु इसका कोई आधार नजर नहीं आता। ग्रंथ में उल्लिखित निम्न श्लोकों से स्पष्ट है कि इस ग्रंथ का नाम सारसंग्रह है और इसके कर्ता श्री मद्विजयण्णोपाध्याय है –

नमः श्री वर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
कल्याणकारको ग्रंथः पूज्यपादेन भाषितः।।
सर्वलोकोपकारार्थ कथ्यते सार संग्रहः।
श्री मद्वाग्भट् सुश्रुतादि विमल श्री वैद्यार्णवे।
भास्वतसुसारसंग्रह महा भामान्विते संग्रहे।।
मंत्रज्ञैरपलाल्पसद्विजयण्णोपाध्यायसन्निर्मिते।
ग्रंथेऽस्मिन् मधुपाकसारविचये पूर्णो भवेन्मंगलम्।।

आयुर्वेदाचार्य श्री पं. विमलकुमार जैन का भी कहना है कि बुन्देलखण्ड में भी मुझे इसकी एक दो प्रतियां दृष्टिगोचर हुई हैं और उन प्रतियों में इसका नाम 'सारसंग्रह' ही मिलता है।

पात्रस्वामी या पात्रकेशरी

श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रंथ कल्याणकारक में "शल्यतंत्र च पात्रस्वामिप्रोक्तं" (क.का. 20/85) इत्यादि वाक्य के द्वारा इनके द्वारा रचित शल्य तन्त्र सम्बन्धी ग्रंथ का उल्लेख किया है। यह ग्रंथ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इनके विषय में कहा गया है कि ये दक्षिण के अहिच्छत्र नगर के राज पुरोहित थे। ये समन्तभद्र द्वारा रचित आप्तमीमांसा को पढ़कर अत्यधिक प्रभावित हुए और इन्होंने जैनधर्म अंगीकार कर लिया। ये दिगम्बर थे और बौद्धों के द्वारा प्रतिपादित हेतु के लक्षण का खण्डन करने के लिए इन्होंने पद्मावती देवी की कृपा से 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक ग्रंथ की रचना की थी। जिनेन्द्रगुणस्तुति (पात्रकेसरी स्तोत्र) भी इन्हीं के द्वारा रचित है।

जैन शिलालेख संग्रह, भाग-1, पृष्ट 103 के अनुसार श्रवणबेलगोला की मल्लिषेण प्रशस्ति (सन् 128) में इस प्रसंग का निम्न उल्लेख या सन्दर्भ कल्याणकारक के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र प्राप्त नहीं होता है।

कल्याणकारक ग्रंथ में उद्धृत आचार्य –

कल्याणकारक ग्रंथ में श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने पूर्ववर्ती कतिपय

आचार्यों और उनके द्वारा रचित ग्रंथों का उल्लेख किया है जो निम्न प्रकार है –

> **शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यमतंत्र च पात्र –**
> **स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः।**
> **काये या सा चिकित्सा दशरथगुरूभिर्मेघनादैः शिशूनां**
> **वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः।।**

अर्थात् शालाक्यतंत्र (उर्ध्वांग चिकित्सा) पूज्यपाद के द्वारा प्रकट किया गया। तद्वत् शल्यतंत्र पात्रस्वामि के द्वारा कहा गया, विष और उग्र ग्रह शमन विधि (अगदतंत्र एवं भूत विद्या) ख्याति प्राप्त सिद्धसेन द्वारा कहा गया, कायचिकित्सा का कथन दशरथ गुरू के द्वारा किया गया, शिशु चिकित्सा (कौमारभृत्य) का कथन मेघनाद एवं दिव्यामृत (रसायन) और वृष्य (बाजीकरण) का कथन सिंहनाद मुनीन्द्र (मुनि श्रेष्ठ) द्वारा किया .गया।

उपर्युक्तानुसार जिन आचार्यों का उल्लेख श्री उग्रादित्याचार्य द्वारा किया गया है उनका कोई ऐतिहासिक वर्णन यद्यपि प्राप्त नहीं होता है, तथापि उनके द्वारा विभिन्न वैद्यक विषयों पर आधारित ग्रंथ रचना किए जाने का उल्लेख श्री उग्रादित्याचार्य द्वारा किए जाने से यह स्पष्ट है कि उनके समय में या तो वे ग्रंथ विद्यमान रहे होंगे अथवा उनके विषय में पर्याप्त जानकरी उन्हें रही होगी। उपर्युल्लिखित आचार्यों का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत है–

सिद्धसेन

श्री उग्रादित्याचार्य के उपर्युक्त उल्लेख "विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः" से ज्ञात होता है कि आचार्य सिद्धसेन के द्वारा अगदतंत्र (विष विज्ञान) एवं उग्र ग्रह शमन (भूतविद्या) विषय पर आधारित ग्रंथ का निर्माण किया था जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है और न ही तद्विषयक कोई साक्ष्य या संकेत अन्यत्र उपलब्ध है। इनके विषय

में किसी ऐतिहासिक सन्दर्भ के अभाव में यद्यपि कोई काल निर्धारण करना सम्भव नहीं है, तथापि ये श्री उग्रादित्याचार्य के पूर्ववर्ती रहे होंगे और उनके द्वारा रचित ग्रंथ उनके समय में रहा होगा।

मेघनाद

ये भी उग्रादित्याचार्य द्वारा सन्दर्भित या उल्लिखित आचार्य हैं जिनके द्वारा **शिशु वैद्यक** जिसे **बाल रोग चिकित्सा** या **कौमार भृत्य** कहा जाता है विषय पर आधारित वैद्यक ग्रंथ की रचना किए जाने का उल्लेख है। यद्यपि इनके विषय में कोई साक्ष्य या ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं है, अतः इनके विषय में कुछ कह पाना या इनके समय का निर्धारण करना सम्भव नहीं है, तथापि कल्याणकारक में इनका उल्लेख होने से ये श्री उग्रादित्याचार्य के पूर्ववर्ती रहे हैं–ऐसा मानना समीचीन होगा। डा. राजेन्द्र प्रकाश भटनागर के अनुसार ये दक्षिण की दिगम्बर परम्परा के आचार्य और वैद्यक शास्त्र के विद्वान थे।

सिंहनाद

जैन साहित्य के इतिहास में इनके विषय में कोई परिचयात्मक सामग्री अथवा ऐतिहासिक विवरण सुलभ नहीं होने से निश्चयात्मक रूप से इनके विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं है। फिर भी इनके द्वारा आयुर्वेद के दो विषयों रसायन और बाजीकरण पर ग्रंथ लिखे जाने की आधिकारिक सूचना श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रंथ 'कल्याणकारक' में दी है जो इस प्रकार है–**"वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः।"** तदनुसार **वृष्य** अर्थात् **बाजीकरण** और दिव्यामृत अर्थात शरीर को जरा और व्याधि से मुक्त करने वाला रसायन तंत्र सम्बन्धी ग्रंथ का कथन सिंहनाद मुनीन्द्र द्वारा किया गया।

श्री उग्रादित्याचार्य ने इनके लिए 'मुनीन्द्र' पद विशेषण रूप में लगाया है जिससे प्रतीत होता है कि ये दिगम्बर परम्परा के उच्च कोटि

के साधु थे और उनके लिए पूज्य थे। उनके पूर्ववर्ती होने से उनके द्वारा आदर सहित उनका स्मरण किया गया है। डॉ. राजेन्द्र प्रकाश भटनागर के अनुसार इनके नाम का पाठान्तर 'सिंह सेन' मिलता है। डॉ. भटनागर का यह कथन किस आधार पर है यह स्पष्ट नहीं है, तथापि इस नाम से भी उनके विषय में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है, अतः उनका व्यक्तित्व, कृतित्व एवं काल सम्बन्धी स्थिति स्पष्ट नहीं है। इतना अवश्य है कि कल्याणकारक में इनके द्वारा रचित ग्रंथ का उल्लेख होने से इनका श्री उग्रादित्याचार्य से पुर्ववर्ती होना सुनिश्चित है।

दशरथ गुरु

इनका भी उल्लेख **'कल्याणकारक'** ग्रंथ में **'कायचिकित्सा'** नामक ग्रंथकर्ता के रूप में किया गया है। यथा **"काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिः।"** इससे प्रतीत होता है कि दशरथ गुरु जो उग्रादित्याचार्य के पूर्ववर्ती थे ने कायचिकित्सा विषय पर आधारित ग्रंथ की रचना की थी और उस समय वह ग्रंथ प्रचलित था, किन्तु अब नहीं है।

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास (भाग-2) के अनुसार दशरथ गुरु पंचस्तूपान्वयी वीरसेन के शिष्य और जिनसेनाचार्य के सधर्मा बन्धु गुरु भाई थे। जिनसेनाचार्य अत्यधिंक मेधावी और प्रकाण्ड विद्वान् थे। जिनसेनाचार्य का सतीर्थ होने से दशरथ गुरु का भी वही समय निर्धारित होता है जो जिनसेनाचार्य का है। उन्होंने अपनी जय धवला टीका शक स. 759 (सन् 837) में पूर्ण की थी। तदनुदसार उनका समकालीन होने से दशरथ गुरु का समय भी सन् 800 से 837 ई. होना चाहिये।

उग्रादित्याचार्य

श्री उग्रादित्याचार्य उन अप्रतिम जैन मनीषियों में से हैं जिन्हें **'प्राणावाय पूर्व'** का साधिकार पूर्ण ज्ञान था। इसका साक्षी है उनके

द्वारा रचित **'कल्याणकारक'** ग्रंथ जो वर्तमान में सर्वांगपूर्ण (अष्टांगयुक्त) प्राणावाय (जैन चिकित्सा शास्त्र) एवं जैन दृष्टिकोण पर आधारित है। इसमें किसी भी रूप में मांसाहार सेवन नहीं करने का निर्देश करते हुए उसकी निरर्थकता का प्रतिपादन और अहिंसा की प्रतिष्ठापना की गई है। यद्यपि ग्रंथ लेखक श्री उग्रादित्याचार्य ने अपना कोई परिचयात्मक विवरण नहीं दिया है, तथापि अपने गुरू के विषय में स्पष्ट रूप से लिखा है। उन्होंने अपने गुरू का नाम **'श्रीनन्दि'** बतलाया है जो अशेषागमज्ञ (जिनागम और तदन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणावाय के ज्ञाता) थे। उनसे ही प्राणावाय (आयुर्वेद शास्त्र) में वर्णित दोषों (वात–पित्त–कफ), उन दोषों से उत्पन्न उग्र रोगों और उनकी चिकित्सा आदि का ज्ञान प्राप्त कर इस ग्रंथ की रचना की थी। इससे स्पष्ट है कि उस काल में श्री नन्दि अशेष प्राणावाय शास्त्र के ज्ञाता के रूप में ख्यापित थे।

कल्याणकारक के अनुसार आचार्य श्रीनन्दि को विष्णुराज जो परमेश्वर (परमश्रेष्ठ) की उपाधि से अलंकृत थे की राजसभा में विशेष आदर प्राप्त था। मुनीन्द्र श्रीनन्दि का गुणगान करते हुए श्री उग्रादित्याचार्य लिखते हैं–**"महाराजा विष्णुराज के मुकुट की माला से जिनके चरण युगल शोभित हैं अर्थात् जिनके चरण कमल में विष्णुराज नमस्कार करता है, जो सम्पूर्ण आगम के ज्ञाता हैं, प्रशंसनीय गुणों से संयुक्त हैं और जिनसे मेरा उद्धार हुआ है उनकी आज्ञा से नाना प्रकार के औषधि दान की सिद्धि के लिए (चिकित्सा की सफलता के लिए) और सज्जन वैद्यों के वात्सल्य प्रदर्शन रूपी तप की पूर्ति के लिए जिनमत (जिनामग) से उद्धृत इस कल्याणकारक ग्रंथ को इस धरा पर बनाया।"**

उपलब्ध विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों द्वारा इनका समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निर्धारित किया गया है। विद्वानों का यह भी मत है कि श्री उग्रादित्याचार्य मूलतः त्रिकलिंग वर्तमान में तेलंगाना

(आंध्र प्रदेश) में स्थित 'रामगिरि' (विशाखा पट्टन जिलान्तर्गत रामतीर्थ या रामकोंड) नामक पहाड़ियों के मध्य निवास करते थे। यहीं पर जिनालय में बैठकर उन्होंने अपने 'कल्याण कारक' ग्रंथ की रचना की थी। साथ ही अध्ययन से यह तथ्य भी उद्घाटित होता है हि उन्हें बेंगी के पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (764–799 ई.) का संरक्षण प्राप्त था।

धनंजय

कोश ग्रंथ रचनाकार के रूप में ये प्रख्यात हैं। इनके समय के विषय में विद्वानों में यद्यपि किंचित् मतभेद है, तथापि आठवीं–नवमीं शताब्दी के मध्य इनकी अवस्थिति पं. नाथूराम प्रेमी. डा. हीरालाल जी आदि विद्वानों ने निर्धारित की है। इनके द्वारा रचित ग्रंथों में **'धनंजय निघण्टु'** आयुर्वेद की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें अनेक वानस्पतिक द्रव्यों का परिचय संग्रहित है। इनके द्वारा रचित विषापहार स्तोत्र में विष विज्ञान सम्बन्धी विषय का उल्लेख है जो आयुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। इससे इनकी आयुर्वेदज्ञता लक्षित होती है।

सोमदेव सूरि (9वीं श.)

बहुश्रुत जैनाचार्य के रूप में श्री सोमदेव का नाम चर्चित है। इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध सर्वमान्य है। यद्यपि इन्होंने आयुर्वेद के किसी स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना नहीं की है, तथापि इनके द्वारा रचित यशस्तिलक चम्पू में विस्तारपूर्वक आयुर्वेद सम्बन्धी स्वस्थवृत्त, स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी नियमों, हिताहार, अहिताहार और उसके सेवन से उत्पन्न होने वाली हानियों–विकारों, भोजन विधि, दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि का प्रतिपादन जिस प्रकार विस्तार पूर्वक किया गया है वह उनके आयुर्वेद के प्रति उनके योगदान को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

महेन्द्र जैन (11वीं श.)

इनका अपर नाम महेन्द्र योगिक भी मिलता है, ये कृष्ण वैद्य के पुत्र थे। इनके द्वारा **'द्रव्यावलि समुच्चय'** नामक ग्रंथ की रचना किए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। पूना से प्रकाशित धन्वन्तरि **निघण्टु (1985)** में भी 'द्रव्यावलि' समन्वित है। हेमचन्द्र (12वीं श.) और मंख (12वीं शता.) ने धन्वन्तरि निघण्टु को उद्धृत किया है। अंतः इनका काल 11वीं शता. होना प्रमाणित होता है। द्रव्यावलि में विभिन्न वानस्पतिक द्रव्यों के गुण–कर्मों का विवरण दिया गया है।

दुर्गदेव (1032)

ये 11वीं शती के प्रख्यात मनीषी हैं। इन्होंने प्राकृत भाषा में ज्योतिष पर आधारित रिट्ठ (रिष्ट) समुच्चय नामक ग्रंथ की रचना की है जिस में 261 गाथाएं हैं। भावी मरणसूचक लक्षणों के आधार पर रोगी या स्वस्थ मनुष्य की आयु ज्ञात करना (आयु निश्चय करना) रिष्ट या अरिष्ट कहलाता है–**"नियतमरणख्यापकं लिंगमरिष्टम्।"** आयुर्वेद में इस विषय का अत्यधिक महत्व है। क्योंकि रोगी में समुत्पन्न लक्षणों के आधार पर या रोगी को देखने हेतु बुलाने के लिए आए दूत में अथवा रोगी को देखने हेतु जाते समय मार्ग में प्रकट हुए शुभाशुभ लक्षणों के आधार पर प्रत्याख्येय–अप्रत्याख्येय रोगी का निर्णय करने और तदनुसार विवेकानुसार उसकी चिकित्सा करने या नहीं करने में वैद्य को सुविधा रहती है। ऐसे लक्षणों का कथन तथा अन्य विभिन्न प्रकार के अरिष्ट लक्षणों का कथन 'रिट्ठ समुच्चय' में किया गया है। अतः आयुर्वेद की दृष्टि से भी यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है, और आयुर्वेद के प्रति दुर्गदेव का योगदान अविस्मरणीय है।

आचार्य हेमचन्द्र

बहुमुखी प्रतिभा के धनी एवं वैदुष्य मण्डित श्री हेमचन्द्राचार्य जी

जैन व्याकरण एवं तत्व मर्मज्ञ होने के साथ ही आयुर्वेद के भी ज्ञाता थे। इन्होंने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया है जो उनके पाण्डित्य एवं वैदूष्य का सूचक है। इन्होंने जिन ग्रंथों की रचना की है उनमें **'निघण्टु शेष'** आयुर्वेद की दृष्टि से महत्वपूर्ण है जिसमें चिकित्सोपयोगी अनेक वानस्पतिक द्रव्यों के गुणधर्म का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त **'निघण्टु कोश'** नामक एक ग्रंथ में भी उन वनस्पतियों के सार्थक पर्याय सहित उनके गुणधर्मों का विवेचन किया गया है जिनका समावेश **'अभिधान चिन्तामणि'** में नहीं किया गया है।

कीर्तिवर्मा (1125)

ये दक्षिण भारतीय (कर्नाटक के) जैन धर्मानुयायी चालुक्य राजा थे। इन्होने कन्नड़ में **'गो वैद्यक'** नामक ग्रंथ की रचना की थी। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर इनका समय 12वीं शताब्दी निर्धारित किया गया है।

गुणाकार (1239 ई.)

ये श्वेताम्बर आचार्य थे। इन्होंने नागार्जुन कृत आयुर्वेद के ग्रंथ **'योगरत्नमाला'** अपर नाम **'आश्चर्यरत्नमाला'** पर विवृति नामक टीका लिखी है जिसका रचना काल वि.सं. 1296 (1239 ई.) है।

पं. आशाधर (1240)

जैन विद्वानों में पं. आशाधर जी अत्यधिक आदरणीय मनीषि हैं। जैन साहित्य के रचनाकारों में अपने समय के मेधावी उद्भट मनीषि पं. आशाध ार जी दिगम्बर सम्प्रदाय के बहुश्रुत प्रतिभाशाली ग्रंथकार माने जाते है। जिनकी काव्य प्रतिभा धर्म और साहित्य के साथ साथ दर्शन, न्याय, व्याकरण, योग, अलंकार, वैद्यक आदि के ग्रंथों की रचना में अभिव्यक्त हुई है। इनके द्वारा रचित विशाल ग्रंथ राशि को देखकर इनके प्रकाण्ड

पाण्डित्य पूर्ण काव्य वैभव का ज्ञान सहज रूपेण हो जाता है। धार्मिक आदि विषयों के ग्रंथ की रचना के साथ साथ्थ आचार्य वाग्भट् द्वारा लिखित आयुर्वेद के ग्रंथ **'अष्टांगहृदय'** पर इनके द्वारा लिचित **'अष्टांगहृदयोद्योतिनी'** 'टीका' संस्कृत में लिखी जाने का उल्लेख विभिन्न विद्वानों ने किया है। वर्तमान में यह टीका उपलब्ध नहीं है।

हरिपाल (13वीं शताब्दी)

इन्होंने प्राकृत भाषा में **'वैद्यशास्त्र'** नामक ग्रंथ की रचना की थी जिसका रचना काल वि.सं. 1341 (1284 ई.) है। इसका संक्षिप्त विवरण जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, भाग-1 एवं जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग में प्राप्त होता है। इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति श्री पं. कुन्दनलाल जैन को प्राप्त हुई है। उनके द्वारा प्रदत्त जानकारी के अनुसार प्रस्तुत रचना **'प्राकृत वैद्यक'** के लिपिकार ने **'पराकृत वैद्यक'** लिखा है जो पत्र संख्या 402 पर उल्लिखित वाक्य **'इति प्राकृत वैद्यक समाप्तम्'** से सूचित होता है। साथ ही **'णमिऊण वीयरागं'** लिखकर 'योग निशानद्ध के लिपिकार ने 'पराकृत वैद्यक और योग निधान नाम की दो भिन्न कृतियाँ है। उनके अनुसार प्राकृत वैद्यक 275 और योग निधान 108 गाथाओं में निबद्ध है। एतद्विषयक श्री कुन्दनलाल जी का एक लेख श्रमण (जनवरी-मार्च, 1997) में प्रकाशित हुआ है जिसमें विस्तार पूर्वक ग्रंथ और लेखक के विषय में चर्चा की गई हैं।

चम्पक (13वीं शताब्दी)

ये रस विद्या में निपुण जैन विद्वान थे। ये अंचल गच्छीय नायक महेन्द्रप्रभ सूरि के शिष्य थे। ये उज्जवल कीर्तिवान, यशस्वी एवं नित्य परोपकार में तल्लीन रहने वाले थे-ऐसा इनके द्वारा रचित 'रसाध्याय' नामक ग्रंथ में उल्लिखित प्रशस्ति से ज्ञात होता है। इस ग्रंथ का कुछ भग खण्डित होने से इस ग्रंथ का रचना काल ज्ञात नहीं हो सका, तथापि

मेरूतुंग द्वारा 1386 ई. में 'रसाध्याय' पर टीका लिखे जाने का संकेत मिलता है जिससे रसाध्याय की रचना उससे पूर्व किया जाना स्पष्ट है। अतः इसका सम्भावित समय 13वीं शताब्दी होना असंदिग्ध है।

अमृतनन्दी (13वीं शताब्दी)

ये दक्षिण भारत (कर्नाटक) की दिगम्बर परम्परा के जैनाचार्य थे। इन्होंने अत्यंत विस्तृत एक निघण्टु कोश की रचना की थी जिसमें जैन दृष्टि से वनस्पतियों के नामों के पारिभाषिक अर्थ बतलाए गए हैं। इसमें लगभग 22000 शब्द हैं। श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने कल्याणकारक ग्रंथ की प्रस्तावना में इसे 'अकारादि निघण्टु' में नाम से उद्धृत किया है। इसकी रचना मन्व राजा के आग्रह से की गई थी। मन्व भूपति का काल 1299 ई. (सं. 1355) के लगभग माना जाता है। अतः अमृतनन्दी का समय 13 शताब्दी से 14वीं शताब्दी (पूर्वार्ध) मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

कवि मंगराज (1360 ई.)

ये चौदहवीं शताब्दी के कानड़ी जैन विद्वान हैं। इन्होंने विजय नगर के हिन्दू साम्राज्य के आरम्भिक काल में राजा हरिहर राय की शासनावधि में वि.सं. 1416(1360 ई) में 'खगेन्द्रमणि दर्पण' नामक विष चिकित्सा सम्बन्धी अति उत्तम वैद्यक ग्रंथ की रचना की थी। कन्नड़ भाषा में रचित यह एक सुविस्तृत एवं सुव्यवस्थित ग्रंथ है जिसके लगभग 300 मुद्रित पृष्ठ हैं। यह ग्रंथ मद्रास विश्व विद्यालय द्वारा कन्नड़ सीरीज के अन्तर्गत सन् 1940 में प्रकाशित किया गया था जो वर्तमान में उपलध नहीं है। इस ग्रंथ के विषय में कवि मंराज ने स्वयं लिखा है कि जनता के निवेदन पर उन्होंने सर्वजनोपयोगी इस वैद्यक ग्रंथ की रचना की है।

इनकी कृति का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कन्नड़ और संस्कृत भाषा में साधिकार लिखने की अद्‌भुत क्षमता इनमें थी। इन्होंने

स्वयं को पूज्यपाद का शिष्य बतलाते हुए पूज्यपाद एवं जिनेन्द्र देव की उक्तियों को ही अपनी उपर्युक्त कृति बतलाया है। कवि मंगराज और उनकी कृति के सम्बन्ध में पं. भुजबली शास्त्री की एक विस्तृत लेख **"जैन सिद्धान्त भास्कर"**, भाग-10, किरण-1 (जुलाई, 1943) में प्रकाशित हुआ। इस सुविस्तृत लेख में इस ग्रंथ और ग्रंथकर्त्ता के विषय में विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला गया है।

यशःकीर्ति (14वीं शताब्दी)

इनके द्वारा लिखत **'जगत्सुन्दरी प्रयोग माला'** नामक ग्रंथ का उल्लेख जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, भाग-1 में मिलता है। इस ग्रंथ की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति जो **'योनिप्राभृत'** के साथ मिली हुई है भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में सुरक्षित है जिसका लिपिकाल वि. सं. 1582 (1525 ई.) है। अतः स्पष्ट है कि इसका रचनाकाल इससे पूर्व का है। यह ग्रंथ यद्यपि प्राकृत भाषा में रचित है, किन्तु मध्य में कहीं कहीं संस्कृत गद्य एवं कुछ स्थानों पर प्राचीन अपभ्रंश या हिन्दी का प्रयोग दृष्टिगत होता है। श्री जुगलकिशोर मुख्तार जी ने भी 'अनेकान्त' में इस ग्रंथ के विषय में चर्चा की है। श्री परमानन्द शास्त्री ने जैन साहित्य के इतिहास में छह यशःकीर्ति नामक मुनियों का संकेत किया है। प्रस्तुत ग्रंथ के कर्त्ता मुनि यशः कीर्ति चौदहवीं शताब्दी के प्रतीत होते हैं।

मेरुतंग (14वीं शताब्दी)

इन्होंने रसशास्त्र सम्बन्धी एक प्राचीन ग्रंथ **'कंकालय रसाध्याय'** पर टीका लिखी है। इसका उल्लेख **'केटलोगस केटेलोगम'**, भाग-2, पृष्ठ15 पर किया गया है। **'कंकालय रसाध्याय'** की रचना जैन विद्वान चम्पक द्वारा की गई थी। मेरुतुंग जैन साधु थे और इनके द्वारा 1386 में इस टीका के लिखे जाने उल्लेख प्राप्त होता है। **'गोइल के इतिहास'** में इस टीका ग्रंथ को **'रसायन प्रकरण'** कहा गया है और इसका रचना काल 1387 लिखा है।

अनन्त देव सूरि (14वीं-15वीं शताब्दी)

इनके विषय में व्यक्तिगत जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनके द्वारा रचित रसशास्त्र सम्बन्धी **'रसचिन्तामणि'** नामक ग्रंथ प्राप्त होता है जिसकी दो हस्तलिखित प्रतियां भण्डारकर प्राच्य विद्या शोध संस्थान, पूना में (ग्रंथ संख्या 192, 193) सुरक्षित हैं। संस्कृत में लिखित इस ग्रंथ में 900 श्लोक हैं। इस ग्रंथ को टोडरानंद कृत **'आयुर्वेद सौख्य'** जो 16वीं शताब्दी की रचना है में उद्धृत किया गया है। अतः **'रसचिन्तामणि'** ग्रंथ 14वीं शताब्दी (उत्तरार्ध) एवं 15वीं शताब्दी (पूर्वाध) में किसी समय रचित प्रतीत होता है। यह ग्रंथ प्रथम बार 1911 में और द्वितीय वार 1967 में मुद्रित हो चुका है।

माणिक्य चन्द्र जैन (14वीं-15वीं शताब्दी)

इनका व्यक्तिगत परिचय अज्ञात है। इनके द्वारा रचित रस विद्या सम्बन्धी **'रसावतार'** नामक ग्रंथ की प्रति भण्डारकर प्राच्य विद्या शो ध संस्थान पूना में (ग्रंथ संख्या 373) उपलब्ध है। इस गंथ में उल्लिखित अनेक रस योगों का समावेश श्री हरिप्रपन्न जी ने अपने ग्रंथ 'रसयोग सागर' में किया है। टोडरानन्छ कृत **'आयुर्वेद सौख्य'** में भी 'रसावतार' का उल्लेख होने से 'रसावतार' की रचना 14वीं श्ताब्दी के उत्तरार्ध एवं 15वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में किया जाना सम्भावित है।

नयनसुख (16वीं श्ताब्दी)

इनके द्वारा हिन्दी में पद्यमय रचना के रूप में लिखित **'वैद्यमनोत्सव'** नामक ग्रंथ प्राप्त होता है। कविवर नयनसुख द्वारा छन्दोवद्ध इस लघुकृति की रचना संवत 1649 (1592 ई.) में की गई थी जो दोहा, सोरठा और चौपाई आदि छन्दो में निबद्ध है। कविवर नयनसुख श्रावककुल में उत्पन्न केसराज (कुछ हस्तलिखित प्रतियों के अनुसार केशवराज) के पुत्र थे–**"केसराजसुत नयनसुख श्रावककुलहि निवास"**।

हर्षकीर्ति सूरि (16वीं शताब्दी)

ये वैद्यक विद्या के साथ व्याकरण और ज्योतिष में निष्णात थे। इन्होंने इन तीनों विषयचों पर आधारित ग्रंथों की रचना की थी। वैद्यक शास्त्र पर आधारित इनके द्वारा रचित **'वैद्यक सारोद्धार'** भी मिलता है–**''नागपुरीय तपोगणराज श्री हर्षकीर्ति संकलिते वैद्यकसारोद्धारे तृतीयो गुटिकाधिकारः।''** इस पुष्पिका से यह भी ज्ञात होता है कि ये नागपुरीय तापगच्छ के भट्टारक साधु थे। एक पुष्पिका में इन्होंने अपने नाम के साथ 'उपाध्याय' भी लिखा है। इनके द्वारा रचित ग्रंथ का रचना काल 16वीं शताब्दी है। इनके द्वारा रचित अन्य 15 ग्रंथों का उल्लेख मिलता है।

जयरत्न गणि (1605 ई.)

ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय में पूर्णिमा पक्ष के आचार्य भावरत्न के शिष्य थे। इनका निवास स्थान 'त्रांबावती' नगर था। यहीं पर जयरत्न गणि ने **'ज्वर पराजय'** नामक वैद्यक ग्रंथ की रचना की थी जिसका उल्लेख उन्होंने अपने ग्रंथ में किया है। इन्होंने अनेक मान्य वैद्यक ग्रंथों का अध्ययन करने के उपरांमत वि. सं. 1662 में भाद्रपद शुक्ला 1 को इस ग्रंथ की रचना की थी–ऐसा उनके द्वारा किए गए उल्लेख से ज्ञात होता है।

लक्ष्मीकुशल (1637 ई.)

ये गुजरात निवासी और तपागच्छ वीरशाखा में पं. जिनकुशल के शिष्य थे। इनके द्वारा रचित ग्रंथ में गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख मिलता है। इनके द्वारा रचित ग्रंथ का नाम **'वैद्यक साररत्नप्रकाश'** है जिसकी रचना सं. 1694 (1637 ई.) में की गई थी।

हंसराज मुनि (17वीं शताब्दी)

ये खरतरगच्छीय वर्द्धमान सूरि के शिष्य थे। इन्होंने **'भिषक्चक्र**

चित्तोत्सव' नामक ग्रंथ की रचना की थी जिसे हंसराज निदान भी कहा जाता है। इन्होंने नेमिचन्द्र के **'द्रव्य संग्रह'** पर **'बालावबोध'** भी लिखा है। इनका समय 17वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

हस्तिरुचि (1669 ई.)

ये तपागच्छीय रुचि शाखा के जैन यति थे। **'चित्रसेन पद्मावतीरास'** के अन्त में इन्होंने अपनी गुरु परम्परा प्रतिपादित की है। इनके द्वारा रचित **'वैद्यवल्लभ'** नामक ग्रंथ वैद्यक ग्रंथों में अन्यतम् है जो 1669 ई. की रचना है।

ऊपर अति संक्षेप में जैनाचार्यो, उनके द्वारा रचित वैद्यक या आयुर्वेद के ग्रंथों का परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त और विद्वान हुए हैं जिन्होंने अपने ज्ञान और लेखनी से आयुर्वेद जगत् और आयुर्वेद साहित्य को उपकृत किया है उनमें से कविवर मान कृत **कवि विनोद** (1688 ई.) और **कवि प्रमोद** (1689 ई.), जिनसमुद्र सूरि कृत **'वैद्यक सारोद्धार'** या **वैद्य चिन्तामणि** (1680 ई.) जोगीदासकृत **वैद्यकसार** (1705 ई.) **मेघमुनि** कृत **मेद्य विनोद** (1761 ई.), गंगारात यति कृत **यति निदान** (1821 ई.) आदि उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकारा विभिन्न औषध योगों के संग्रह के रूप में स्वतन्त्र रूप से रचित अनेक रचनाएं भी प्राप्त होती हैं जो अधिकांशतः गुटका रूप में हैं। इनमें से अनेक ग्रंथ श्री अगर चन्द्र नाहटा के व्यक्तिगत संग्रह में थे।

कुछ विद्वानों ने संस्कृत में रचित आयुर्वेद के ग्रंथों में पद्यमय भाषानुवाद किया है। उन्होंने यह अनुभव किया कि संस्कृत भाषा दुरूह होने से सामान्यजन को उन ग्रंथों को पढ़ने और समझने में कठिनाई होती है, अतः लोगों की सुविधा के लिए उन्होंने सरल और सुबोध पद्यमय सुललित रचना के रूप में उनका भाषानुवाद किया। जैसे लक्ष्मीवल्लभ ने शम्भुनाथ कृत **काल ज्ञान** (1684 ई.) और **मूत्र परीक्षा** का, समरथ ने वैद्यनाथ पुत्र शांतिनाथ की **रसमंजरी** (1707 ई.) का,

रामचन्द्र यति ने आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रंथ शार्गधर संहिता का पद्यमय भाषानुवाद किया जे **वैद्य विनोद** (1969 ई.) के नाम से प्रसिद्ध और उपलब्ध है। इसी प्रकार कुछ विद्वानों के द्वारा संस्कृत भाषा में निबद्ध मूल ग्रंथों का गद्यात्मक अनुवाद किया गया। इससे सामान्यजन को संस्कृत भाषा में निबद्ध मूल ग्रंथों को समझने में अत्यधिक अनुकूलता एवं सुविधा हुई।

इस प्रकार आयुर्वेद विषयाधारित ग्रंथों की रचना करने में जैन मनीषियों का योगदान अविस्मरणीय है। जैन मनीषियों ने आयुर्वेद के जिन ग्रंथों की रचना की है उनका अवलोकन अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनमें अधिकांशतः जैन सिद्धांतों का अनुकरण तथा धार्मिक नियमों का परिपालन किया गया है जो उनकी मौलिक विशेषता है। ग्रंथ रचना में व्याकरण सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुए रस, छन्द अलंकार आदि काव्यांगों का यथा सम्भव प्रयोग किया गया है जिससे ग्रंथ कर्त्ता के वैदुष्य एवं बहुमुखी प्रतिभा का आभास सहज ही हो जाता है। ग्रंथों में प्रौढ़ एवं प्रांजल भाषा का प्रयोग होने से ग्रंथों-रचनाओं की उत्कृष्टता निश्चय ही द्विगुणित हुई है। अतः यह एक सुस्पष्ट एवं स्थापित तथ्य है कि जिन मुनिप्रवरों, मनीषियों, आचार्यो, विद्वत्प्रवरों के द्वारा प्राणावाय सम्बन्धी आयुर्वेद के ग्रंथों की रचना की गई है वे केवल एक शास्त्रज्ञ या स्वशास्त्र पारंगत न होकर अध्यात्म, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि बहुशास्त्र विद् होने के साथ-साथ आयुर्वेद शास्त्र के ज्ञाता, कृताभ्यासी एवं अनुभव से परिपूर्ण विद्वान् थे।

–राजीव कॉम्पलेक्स के पास
इटारसी (म.प्र.)

हिन्दू धर्म का हिस्सा नहीं है जैनः सुप्रीम कोर्ट

नई दिल्ली। सुप्रीम कोर्ट ने व्यवस्था दी है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म का हिस्सा नहीं है और इस समुदाय को अपने शिक्षण संस्थान स्थापित करने तथा उनके संचालन का अधिकार है।

न्यायमूर्ति एस.बी. सिन्हा और न्यायमूर्ति दलबीर भण्डारी की दो सदस्यीय खण्डपीठ ने उत्तर प्रदेश के एटा जिले में जैन समुदाय के कन्या जूनियर हाई स्कूल के एक शिक्षक की सेवायें समाप्त करने से सम्बंधित मामले में यह व्यवस्था दी। न्यायालय ने संविधान निर्माताओं द्वारा जैन समाज को अल्पसख्यक समुदाय के रूप में मान्यता दिये जाने और इसके प्रमाण संविद सभा की कार्यवाही में मौजूद होने का अपने फैसले में जिक्र किया। फैसले के अनुसार चूंकि उ.प्र. सरकार ने एक समय यह स्वीकार किया था कि जैन समुदाय, जो राज्य में अल्पसंख्यक समुदाय है, ने यह स्कूल स्थापित किया है, इसलिए अब उ.प्र. बेसिक शिक्षा परिषद भिन्न दृष्टिकोण नहीं अपना सकता। न्यायालय ने स्पष्ट किया कि एक धर्म विशेष के सदस्य द्वारा संस्था के संचालन मात्र से उसे अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा संचालित संस्था नहीं माना जा सकता है। न्यायलय ने कहा है कि राज्य के जनसंख्या के आंकड़ों के आधार पर ही अल्पसंख्यक स्तर का निर्धारण किया जाता है। जैन शिक्षण संस्थान के अल्पसंख्यक दर्जे के सम्बंध में हाई कोर्ट की व्यवस्था को नजरअंदाज करते हुये एकल न्यायाधीश के हस्तक्षेप को अनुचित करार दिया। हाई कोर्ट की खण्डपीठ ने कहा था कि संस्थान को अल्पसख्यक संस्था का दर्जा प्राप्त होने के कारण इसे किसी शिक्षक की सेवायें समाप्त करने से पहले जिला बेसिक शिक्षा अधिकारी की अनुमति लेना आवश्यक नहीं है। लेकिन एकल न्यायाधीश ने इस टिप्पणी को नजरअंदाज करते हुये अप्रैल, 2003 में अपने फैसले में कहा था कि स्कूल के अल्पसंख्यक दर्जे के सवाल पर विचार ही नहीं किया गया। खण्डपीठ ने विभिन्न फैसलों को उद्धृत करते हुए कहा कि यह अविवादित तथ्य है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म का हिस्सा नहीं है।

24 अगस्त 2006 दैनिक 'हिन्दुस्तान' नई दिल्ली से साभार